सम्पादकीय

लोकसभा का चुनाव परिणाम और इसके निहितार्थ

16 मई को घोषित 16वीं लोकसभा चुनाव में भाजपा को स्पष्ट बहुमत हासिल हुआ। भाजपा को 282 सीटों पर और उसके नेतृत्व वाले राजग गठबन्धन को 336 सीटों पर जीत हासिल हुई, जबकि कांग्रेस को प्रमुख विपक्षी पार्टी होने के लिए जरूरी 54 सीटों से 10 सीट कम पर ही गुजारा करना पड़ा।

यह सही है कि भाजपा को इतनी अधिक सीटें हासिल होंगी, इसका अनुमान खुद उसके नेताओं, चुनाव विश्लेषकों और पूर्वानुमान करने वाली अधिकांश संस्थाओं को भी नहीं था। लेकिन चुनाव के दौरान भाजपा ने जिस तरह की आक्रामक रणनीति अपनायी थी, पूँजीपतियों के चन्दे और उनके द्वारा नियंत्रित मीडिया, खासकर टीवी के जरिये जिस तरह धुँआधार प्रचार किया था, उसे देखते हुए ये नतीजे अप्रत्याशित नहीं कहे जा सकते। भारत के संसदीय लोकतंत्र में अब से पहले चुनाव के बाद बहुमत हासिल करने वाली पार्टी के सांसद अपने नेता, यानी प्रधानमंत्री का चुनाव करते रहे हैं, जबकि भाजपा ने चुनाव के काफी पहले ही नरेन्द्र मोदी को प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार घोषित कर दिया था। पार्टी को केन्द्र में रखने के बजाय एक व्यक्ति की मसीहाई और करिश्माई छवि प्रस्तुत की गयी। 2002 के गुजरात नरसंहार के बाद जिस मीडिया ने नरेन्द्र मोदी को उसके लिए जिम्मेदार ठहराते हुए लगातार कठघरे में खड़ा किया था, वही रातोंरात अपना सुर बदलकर उनकी छवि विकास पुरुष के रूप में गढ़ने और लोगों के दिमाग में स्थापित करने में जुट गया। (देखें लेख आम चुनाव पर मीडिया का प्रभाव पेज-6) इससे पहले एप्को नामक कुख्यात अमरीकी विज्ञापन और जनसम्पर्क (लॉबिंग) कम्पनी भी काफी समय से मोदी की छवि सुधारने के काम में लगी हुई थी। इन्टरनेट और सोशल साइटों पर भी दिनरात आक्रामक प्रचार जारी रहा। चुनाव के दौरान विकास के 'गुजरात मॉडल' से लेकर साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद, जातिवाद और अवसरवाद के सभी दाँव आजमाये गये। चुनाव के ठीक पहले कांग्रेस छोड़कर भाजपा में शामिल होने वाले सौ से भी अधिक दलबदलुओं को टिकट दिया गया, जिनमें लगभग 100 कांग्रेसी नेता भाजपा के टिकट पर जीतकर सांसद बने। कुछ छोटे दलों के नेताओं तथा दलितों के मसीहा उदित राज और राम विलास पासवान जैसे धुर भाजपा विरोधियों ने भी मोदी के सहारे वैतरणी पार कर ली। भाजपा के भीतर नरेन्द्र मोदी के आगे आडवाणी, जसवन्त सिंह, मुरली मनोहर जोशी और कलराज मिश्र जैसे वरिष्ठ भाजपा नेताओं को हाशिये पर धकेल दिया गया। उनकी जगह गुजरात में फर्जी मुठभेड़ के आरोपी, गुजरात के गृहमंत्री रहे अमित शाह को, जिन्हें न्यायालय ने सूबाबदर किये जाने का आदेश दिया था, भाजपा ने उत्तर प्रदेश का चुनाव प्रभारी बनाया। मुजफ्फरनगर और अन्य स्थानों पर हुए साम्प्रदायिक दंगे के बाद हिन्दू-मुस्लिम वोटों के बँटवारे को जीत में बदलने की पूरी कोशिश हुई। चीन और पाकिस्तान को सबक सिखाने, बंग्लाभाषी मुसलमानों के खिलाफ विषवमन करने, अल्पसंख्यकों के खिलाफ अनर्गल प्रलाप, उनसे बदला लेने और मोदी विरोधियों को पाकिस्तान भेजने जैसे बयानों के जरिये अंधराष्ट्रवाद को हवा देकर हिन्दू वोटों के ध्रुवीकरण का प्रयास गया। इतना कुछ करने के बावजूद यदि नरेन्द्र मोदी की जीत नहीं होती तो आश्चर्य की बात होती।

चुनाव नतीजे अप्रत्याशित तो नहीं, लेकिन विरोधाभासों और विडम्बनाओं से भरपूर हैं। निश्चय ही इसके गहरे निहितार्थ हैं। इस चुनाव में 1984 के बाद पहली बार किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिला है। पिछले 25 वर्षों से गठबन्धन की सरकार और मजबूत विपक्ष की जो परिपाटी चल रही थी, उसके विपरीत इसबार विपक्ष छिन्न-भिन्न हो गया है। लेकिन विडम्बना यह कि भाजपा को इस चुनाव में कुल 31 प्रतिशत वोट मिले हैं जो आजादी के बाद स्पष्ट बहुमत पाकर सरकार बनाने वाली किसी भी पार्टी को अबतक मिले वोटों में सबसे कम है। यानी सीट के मामले में भले ही भाजपा को बहुमत हासिल है, लेकिन जनमत की दृष्टि से देखें तो जितने लोगों ने मतदान किया उनमें से भाजपा को एक तिहाई से भी कम वोट हासिल हुए हैं। कुल 82 करोड़ मतदाताओं की तुलना में उसे केवल 18 करोड़ लोगों का मत प्राप्त हुआ है। 19.

3 प्रतिशत वोट पाकर कांग्रेस को केवल 44 सीटें मिलीं जबकि 18.5 प्रतिशत वोट पर ही भाजपा को 116 सीटें मिली हैं। उत्तर प्रदेश में सपा को पिछली बार 23.2 प्रतिशत की तुलना में इस बार केवल 1 प्रतिशत वोट कम मिला जबकि सीटों की संख्या 23 से घटकर 5 रह गयी। बसपा को उत्तर प्रदेश में 20 प्रतिशत और पूरे देश में 4.1 प्रतिशत वोट मिले फिर भी उसे एक भी सीट हासिल नहीं हुई। इसके विपरीत बसपा से कम वोट पाने वाली पार्टियों -- तृणमूल कांग्रेस (3.8 प्रतिशत) को 32 सीटें, एआईडीएमके (3.3 प्रतिशत) को 37 सीटें, सपा (3.4 प्रतिशत) को 5 सीटें और माकपा (3.3 प्रतिशत) को 9 सीटें मिलीं। यह चुनाव प्रणाली कितनी विसंगतिपूर्ण है कि वोटों के बिखराव के चलते बहुत कम वोट पाने वाले प्रत्याशी जीत जाते हैं और जिन मतदाताओं के वोट किसी प्रत्याशी की जीत में नहीं बदल पाते, उनका संसद में कोई प्रतिनिधि नहीं होता। इससे बेहतर चुनाव प्रणाली तो नेपाल में है जहाँ संविधान सभा के चुनाव के लिए मतदान में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था दी गयी है जिसमें जीते हुए प्रत्याशियों के अलावा अलग-अलग पार्टियों को मिले कुल वोट के अनुपात में भी संसद में प्रतिनिधित्व मिलता है।

अपने चुनावी भाषणों में प्रधानमंत्री मोदी ने कहा था कि आने वाली संसद साफ सुथरी छवि वाली होगी। विडम्बना यह कि वर्तमान संसद में चुनकर आने वाले सांसदों में से 186 पर आपराधिक मुकदमें दर्ज हैं जिनमें से 121 पर संगीन अपराध के मामले हैं। पिछली संसद में लगभग 80 सांसदों पर संगीन अपराध के मुकदमें थे जिनकी संख्या बढ़कर डेढ़ गुनी हो गयी है। खुद भाजपा के ही 98 और शिव सेना के 15 (83 प्रतिशत) सांसद दागी हैं। मोदी सरकार में शामिल 13 मंत्रियों पर आपराधिक मुकदमें दर्ज हैं, जिनमें से 8 पर हत्या का प्रयास, अपहरण, साम्प्रदायिक अशान्ति और चुनावी हिंसा के मुकदमें चल रहे हैं।

भारतीय राजनीति में बढ़ता वंशवाद भी चुनाव के दौरान काफी चर्चा का विषय रहा था। प्रधानमंत्री पद के प्रत्याशी मोदी ने परिवारवाद, दिल्ली में माँ-बेटे के शासन और उत्तर प्रदेश में बाप-बेटे के शासन जैसे जुमले उछाल कर खूब लोकप्रियता हासिल की थी। विडम्बना यह कि इस संसद में वंशवाद का पहले से भी अधिक बोलबाला है। एक अध्ययन के मुताबिक भाजपा के 46, कांग्रेस के 18, तृणमूल कांग्रेस के 7, शिव सेना के 8, तेलगूदेशम के 7, तेलंगाना राज्य समिति के 4, सपा के 5, बीजू जनता दल के 3 और लोक जनशक्ति पार्टी के 3 सांसदों पर परिवारवाद की अनुकम्पा रही। कुल मिलाकर 100 से अधिक सांसद वंशवादी परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं जो अपने आप में एक रिकॉर्ड है।

एक सरकारी आँकड़े के मुताबिक हमारे देश में 77 प्रतिशत लोग 20 रुपये रोज पर गुजारा करते हैं, लेकिन इन गरीब-गुरबा लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले सांसदों में 442 करोड़पति हैं। भाजपा के 282 में से 237, कांग्रेस के 44 में से 35 और एआईडीएमके के सभी 37 सांसद करोड़पति हैं। पिछली संसद में 300 करोड़पति थे जबकि इस बार उनकी संख्या डेढ़ गुनी हो गयी है। मोदी सरकार के 44 में से 40 मंत्री करोड़पति हैं। इनमें से अरुण जेटली 113 करोड़, हरसिमरत कौर बादल 108 करोड़, मेनका गाँधी 37 करोड़ और पियूष गोयल 30 करोड़ की सम्पत्ति के मालिक हैं। इन धनाढ्यों का गरीब जनता के प्रति संवेदनाहीन और भावशून्य होना अत्यन्त स्वाभाविक है। कहावत है कि जाके पाँव न फटे बेवाई, सो क्या जाने पीर परायी।

★★★★★

निसंदेह, कांग्रेस की गठबन्धन सरकार ने पिछले 10 वर्षों में उदारीकरण-निजीकरण-विदेशीकरण की नीतियों को लागू करके जिस तरह देशी-विदेशी पूँजी को बेलगाम लूट की छूट दी, उसके चलते देश की मेहनतकश जनता भयावह कंगाली और बदहाली का शिकार हुई। ढाई लाख किसानों और इससे भी बड़ी संख्या में मजदूरों और अन्य मेहनतकशों ने आत्महत्या की। महँगाई, बेरोजगारी, कुपोषण, भुखमरी, महामारी और अभाव ने करोड़ों लोगों का जीवन नरक से भी बदतर बना दिया। कांग्रेसी गठबन्धन सरकार ने भ्रष्टाचार और घोटालों के नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये जिसका कुछ हद तक विस्फोट और शमन अन्ना आन्दोलन में हुआ। जाहिर है कि लोगों के मन में संप्रग सरकार के प्रति तीव्र आक्रोश व्याप्त था। मुख्यधारा की किसी पार्टी या गठबन्धन ने इस जनाक्रोश को दिशा देने और कांग्रेस सरकार की आर्थिक नीतियों का विकल्प प्रस्तुत करने की पहलकदमी नहीं ली। भाजपा तो नवउदारवादी नीतियों की कांग्रेस से भी ज्यादा प्रबल समर्थक है ही, यथास्थितिवाद को स्वीकार कर चुकीं वामपंथी पार्टियाँ, जनता दल के विभिन्न धड़े, समाजवादी पार्टी और विभिन्न रूप रंगों वाली क्षेत्रीय पार्टियों में से किसी का

भी नवउदारवादी नीतियों से कोई बुनियादी मतभेद नहीं है। 1991 में राव-मनमोहन सरकार द्वारा लागू की गयी नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को बाद के गठबन्धन सरकारों में शामिल लगभग सभी पार्टियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समर्थन किया। इनमें से किसी भी पार्टी या गठबन्धन से यह उम्मीद करना बेमानी था कि वे कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत करते या सुधारों की दिशा पलट देने के बारे में सोचते।

विकल्पहीनता की इस स्थिति में मतदाताओं ने विकल्प का भ्रम खड़ा करने वाले, 'विकास' के नारे और अच्छे दिन लाने का दावा करने वाले नरेन्द्र मोदी को जैसे-तैसे जिता दिया। इस तरह कांग्रेस के कुशासन के प्रति जनता के मन में जो गुस्सा और नफरत थी उसका लाभ भाजपा ने उठाया। साथ ही तृणमूल कांग्रेस, बीजू जनता दल, एआईडीएमके, तेलंगाना राज्य समिति और वाईएसआरसी को भी कांग्रेस के खिलाफ जनता के आक्रोश का लाभ मिला। लेकिन ये पार्टियाँ भी नवउदारवाद की प्रबल समर्थक हैं और इनका उद्देश्य कांग्रेस या भाजपा में से किसी भी गठबन्धन का पिछलग्गू बनकर अपना उल्लू सीधा करना मात्र है। वाममोर्चा को इस चुनाव में भारी नुकसान हुआ है। क्योंकि उसने भी नव उदारवादी नीतियों को लागू करके अपना ताप-तेवर और जनता का विश्वास खो दिया है।

लहर जैसी कोई चीज नहीं थी, प्रबल जनसमर्थन जैसी कोई बात नहीं थी, इसे ऊपर दिये गये विभिन्न पार्टियों को मिलनेवाले वोट के अनुपात से समझा जा सकता है। इस चुनाव में मोदी सरकार की सफलता के पीछे विदेशी पूँजीपतियों द्वारा नरेन्द्र मोदी के समर्थन में पानी की तरह बहाया गया पैसा और मीडिया द्वारा बेहिसाब तथा बेअन्दाज विज्ञापन का बहुत बड़ा हाथ रहा है। 2002 के गुजरात नरसंहार के कलंक को मिटाने और 'विकास पुरुष की छवि गढ़ने में पैसे और प्रचार ने जबरदस्त भूमिका निभायी। विडम्बना यह है कि जनता से किये गये 'अच्छे दिन आने' के वादे पूरे करने और कॉरपोरेट जगत के मुनाफे की अमिट प्यास बुझाने के बीच सन्तुलन बनाना नरेन्द्र मोदी के लिए सम्भव नहीं है। संप्रग सरकार ने ऐसा ही करने के प्रयास में दम तोड़ दिया। मोदी सरकार पहले से ही सचेत है और वह ऐसी कोई गलती करनेवाली नहीं है। 'गुजरात मॉडल' इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, जहाँ जनहित को पूँजीहित के मातहत रखने में कभी कोई चूक नहीं हुई।

कांग्रेस और भाजपा की आर्थिक नीतियों में कोई मतभेद भी नहीं- मतभेद है आर्थिकेतर मुद्दों पर- धर्मनिरपेक्षता बनाम साम्प्रदायिकता, धारा 370, समान नागरिक संहिता, राम मंदिर इत्यादि। इसका प्रमाण इस तथ्य में भी मिलता है कि एसोचेम, सीआईआई ने जाती हुई कांग्रेस और भाजपा दोनों को अपनी सभाओं में बुलाया- दोनों को सम्मानित किया क्योंकि उन्हें भरोसा था कि कोई भी पार्टी या गठबन्धन सरकार बनाये, उनकी ही सेवा करेंगे। जब यह साफ तौर पर दिखने लगा कि कांग्रेस की हार और भाजपा की जीत सुनिश्चित है, उसी दौरान आर्थिक क्षेत्र में प्राकृतिक गैस की कीमत, बढ़ाने 100 प्रतिशत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, बैंक निजीकरण के लिए नायक कमीशन की रिपोर्ट पर काम चल रहा था। यह भी गौरतलब है कॉरपोरेट जमात और राजनीतिक पार्टियों के रिश्ते को प्रगाढ़ बनाने के लिए अगस्त 2013 में कांग्रेसी गठबन्धन सरकार ने ही कम्पनी बिल पास किया जिसके तहत कॉरपोरेट घराने अपने मुनाफे का 7.5 प्रतिशत धन राजनीतिक पार्टियों को चन्दा दे सकते हैं।

जिन बड़े पूँजीपति घरानों, बहुराष्ट्रीय निगमों और उनके वर्चस्ववाली मीडिया ने इस चुनाव में कांग्रेस को नकारते हुए खुलकर भाजपा का साथ दिया। उनकी दिलचस्पी अपने मनमाफिक आर्थिक नीतियाँ बनवाने और लागू करवाने में है। इसकी शुरूआत हो चुकी है। नयी सरकार ने आते ही रक्षा क्षेत्र में 100 प्रतिशत विदेशी पूँजी निवेश की अनुमति देने, प्राकृतिक गैस की कीमत बढ़ाने, डीजल-पेट्रोल और अन्य वस्तुओं से सबसिडी हटाने, सार्वजनिक क्षेत्र के नवरत्नों के शेयरों की नीलामी करने, सरकारी बैंकों का निजीकरण, ढाँचागत निर्माण और अन्य क्षेत्रों में विदेशी पूँजी निवेश की बाधाएँ हटाने जैसे कई फैसले लिये हैं। रिलायन्स कम्पनी के गैस की बेहिसाब कीमतों का जो मामला चुनाव के दौरान अरविन्द केजरीवाल ने उठाया था और जिस पर भाजपा ने मौन साध लिया था, नयी सरकार ने 1 जुलाई से उसकी कीमत दोगुना करने का फैसला लिया है। जिस ओएनजीसी ने हाल ही में यह आरोप लगाया कि उसके कृष्णा-गोदावरी तेल कूओं से रिलायन्स ने अरबों रुपये का तेल चुराया, अब विनिवेश के जरिये उसमें निजी पूँजी की भागीदारी बढ़ाने की बात चल रही है।

सवाल यह है कि पूँजीपति घरानों ने अपनी विश्वस्त पार्टी कांग्रेस को छोड़ कर भाजपा का दामन क्यों थामा? जाहिर

है कि कांग्रेस सरकार के दौरान बेलगाम भ्रष्टाचार और घोटालों से पूँजीपतियों को कोई परेशानी नहीं थी। यह तो उनकी कार्यशैली का हिस्सा है। असली मामला यह है कि संप्रग सरकार ने देशभर में हो रहे जनान्दोलनों और अपनी ही पार्टी के भीतर-बाहर प्रबल विरोध के चलते कुछ ऐसे कदम उठाये थे जिसके कारण देशी-विदेशी पूँजीपति उससे खुश नहीं थे। भूमि अधिग्रहण, पुनर्वास और मुआवजा कानून (लार) को लेकर पूँजीपतियों को शिकायत थी कि इससे ढाँचागत निर्माण, भवन निर्माण और औद्योगिक परियोजनाओं में काफी अधिक समय और पैसा लगाना पड़ेगा, जिससे उनका मुनाफा कम हो जायेगा। मोदी सरकार ने अपने चुनाव भाषणों में और उसके बाद भी 100 हाईटेक शहर बसाने और ढाँचागत निर्माण में तेजी लाने को प्रमुखता दी है। इसके लिए भूमि अधिग्रहण से सम्बन्धित कानूनी बाध्यताओं को हटाना ही होगा। वैसे भी नया भूमि अधिग्रहण कानून गुजरात मॉडल से मेल नहीं खाता जहाँ सस्ते और आसान शर्तों पर जमीन देने को लेकर एक तरफ टाटा, अडानी, अम्बानी ने मोदी की प्रशंसा की तो दूसरी ओर विरोधी पार्टियों ने इसे बंदरबाँट और दरबारी पूँजीवाद बताते हुए उनकी तीखी आलोचना की।

अपनी जनविरोधी नीतियों के मारक प्रभावों से जनता को राहत पहुँचाने और गठबन्धन की मजबूरियों के दबाव में ही संप्रग सरकार ने ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना- मनरेगा शुरू की थी जो नवउदारवाद के कट्टर समर्थकों को स्वीकार नहीं थी। धनी किसानों और फार्मरों को शिकायत थी कि मनरेगा के तहत गाँव में जो न्यूनतम मजदूरी दी जा रही है, उसके चलते उन्हें मजदूरी बढ़ानी पड़ रही है और बिहार, झारखण्ड जैसे पिछड़े इलाकों से आने वाले खेत मजदूरों की संख्या कम हो रही है। नवउदारवादी अर्थशास्त्रियों और पूँजीपतियों की ओर से मनरेगा और खाद्य सुरक्षा की इस आधार पर भी तीखी आलोचना हो रही थी कि इससे बजट घाटा बढ़ता है और पूँजीपतियों के हित में किये जाने वाले सरकारी खर्चों में कटौती की जाती है। जनान्दोलनों और अपने ही गठबन्धन की पार्टियों के दबाव में संप्रग सरकार ने बहुप्रतीक्षित वन अधिकार कानून को पास किया था, लेकिन उसे भी कॉरपोरेट जगत 'विकास' के मार्ग में बाधक मान रहा था क्योंकि यह कानून जंगलों और खादानों के बेतहाशा दोहन और आदिवासियों के विस्थापन का विरोध करने वालों को एक हद तक बढ़ावा देता था।

मोदी सरकार को समर्थन देने वाले विकास के पुरोधा और पूँजीपति इन कानूनों और योजनाओं में फेर-बदल करने और उन्हें निष्प्रभावी बनाने की माँग करते रहे हैं। मोदी सरकार ने सरकारी बाधा हटाने और अच्छा प्रशासन देने के अपने वादे के अनुरूप विभिन्न मंत्रालयों में अटकी सैकड़ों परियोजनाओं को जल्दी से जल्दी निपटाने का आश्वासन भी दिया है।

दरअसल भारतीय और विदेशी पूँजीपतियों को भाजपा के उग्र हिन्दुत्ववादी एजेण्डे और साम्प्रदायिक गतिविधि को लेकर आजादी के बाद से जो एतराज और गुरेज था, 1991 में नई आर्थिक नीति लागू होने के बाद उसमें काफी नरमी आयी है। पिछली बार जब अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में भाजपा गठबन्धन की सरकार बनी थी तब उनकी सरकार ने भी नवउदारवादी नीतियों को लागू करने में बढ़-चढ़ कर भमिका निभाई थी। संघ के 'स्वदेशी' और 'आर्थिक राष्ट्रवाद' को धता बताते हुए देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हित में बीमा विनिमयन और विकास अधिकरण कानून लाने, विभिन्न क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अनुपात बढ़ाने, लगभग 1400 वस्तुओं पर से आयात प्रतिबन्ध हटाने और आयात को सुगम बनाने के लिए आयात कर में भारी कटौती जैसे कदम उसी दौरान उठाये गये थे। महराष्ट्र में कुख्यात अमरीकी बिजली कम्पनी एनरॉन के खिलाफ आन्दोलन का राजनीतिक लाभ लेने वाली भाजपा ने उसे 16 फीसदी काउण्टर गारण्टी देकर बिजली बनाने की अनुमति दी थी, जिसके चलते महाराष्ट्र बिजली बोर्ड का दिवाला निकल गया था। वाजपेयी सरकार के इन कदमों ने पूँजीपतियों को काफी हद तक आश्वस्त किया था।

अबकी बार, मोदी सरकार के आगे पूँजीपतियों ने जो माँगे प्रस्तुत की हैं उनमें सार्वजनिक क्षेत्र के निगमों का निजीकरण, बैंकों से सरकारी हिस्सा बेचना और उन्हें निजी प्रबन्धकों को सौंपने, पूँजीपतियों के बकाये कर्जों को बेबाक करने, पूँजीपतियों को सस्ती जमीन देने, कोयला और अन्य खादानों की नीलामी, पेट्रोल, खाद्य पदार्थ इत्यादि पर सबसिडी हटाने, विभिन्न क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा हटाने, पर्यावरण सुरक्षा के आधार पर रोकी गयी परियोजनाओं को चालू करने, कृषि क्षेत्र में ठेका खेती और कॉरपोरेट खेती को बढ़ावा देने जैसी माँगें शामिल हैं। ये सभी माँगे भाजपा को पहले से ही सहर्ष स्वीकार्य है। पिछली सरकार के समय

स्वदेशी के नाम पर संघ से जुड़े विभिन्न संगठनों ने नाममात्र का ही सही, विरोध प्रकट किये थे, लेकिन अब वे कतारबद्ध हैं और नरेन्द्र मोदी के लिए उन्हें सम्भालना कठिन नहीं।

आार्थिक क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजी को भरपूर बढ़ावा देते हुए, संघ परिवार के हिन्दुत्ववादी एजेण्डों को बढ़-चढ़ कर लागू करने में कोई परेशानी नहीं है। पिछली भाजपा गठबन्धन सरकार ने यूजीसी, एनसीईआरटी और तमाम उच्च अकादमिक संस्थानों में न केवल पहले से चले आ रहे रोमिला थापर, विपिन चन्द्रा, आरएस शर्मा जैसे प्रख्यात इतिहासकारों की किताबों को पाठ्यक्रम से हटाकर आनन-फानन में आरएसएस के विचारों के अनुरूप पाठ्यक्रम आरोपित किये थे। यानी बायपेयी सरकार ने आर्थिक राष्ट्रवाद को किनारे कर के नवउदारवादी नीतियों के तहत विदेशी पूँजी को बढ़ावा देने के साथ-साथ सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के एजेण्डे को भी मुस्तैदी से लागू किया था। जाहिर है कि भाजपा सरकार के लिए संघ परिवार की अनुदार कार्यसूची और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों को एक साथ लागू करना कोई मुश्किल काम नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुमत के दम पर वह आर्थिक क्षेत्र में नवउदारवादी नीतियों को तेजी से आगे बढ़ाने के साथ-साथ संघ के प्रतिक्रियावादी एजेण्डे को भी आगे बढ़ायेगी। महीने भर के भीतर ही इसके स्पष्ट संकेत मिलने लगे हैं। इन कदमों से पहले से ही मौजूद आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक संकट गहरा होगा और महँगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, कंगाली-बदहाली जैसी समस्याएँ कम होने के बजाय और अधिक बढ़ेंगी। जनपक्षधर ताकतों को एकजुट होकर जनान्दोलनों को सही दिशा में आगे बढ़ाना होगा। यही समय की माँग है।

❑

भाषण और अभिभाषण में भयानक अन्तर है।

जानी दुश्मन चीन-पाकिस्तान के छक्के छुड़ाने की जगह उनसे गले लिपटने की बात।

समान नागरिक कानून की जगह अल्पसंख्यकों के विकास की बात।

धारा 370 की जगह कश्मीर के विकास की बात।

मंदिर की जगह घर-घर शौचालय बनवाने की बात।

अल्पसंख्यकों के खिलाफ विषवमन की जगह सांप्रदायिक दंगे बर्दाश्त नहीं जैसी बात।

आतंकवाद के जनक पाकिस्तान के खिलाफ, विस्तारवादी चीन के खिलाफ, बंगला भाषी (बंगलादेशी) मुसलमानों के खिलाफ, धर्मान्तरण करनेवालों के खिलाफ मनमोहक मौन।

शब्दाडम्बर की ढब तो जगह देख के बदल गयी, लेकिन शब्दाडम्बर की आड़ में असली एजेंडा मुस्तैदी से लागू हो रहा है। अर्थजगत में नवउदारवाद, निजीकरण, विनिवेशीकरण, विदेशीकरण की रफ्तार तेज है। कॉरपोरेट के स्वार्थों को हर हाल में पूरा करना है। जनकल्याण के लिए 2022 की तारीख डाल दी गयी है।

वित्तमंत्री की प्राथमिकताएँ जो निघंटु शब्दजाल से आच्छादित हैं, उनके सरल अर्थ

अधिक राजस्व, करदाताओं पर न्यूनतम बोझ

मतलब साफ है, पूँजीपतियों पर टैक्स का बोझ डाले बगैर सरकारी सम्पत्तियों की नीलामी करके धन जुटाना।

उत्पादन का खर्च घटाना

उत्पादन खर्च घटाने का एक ही तरीका है, मजदूरी कम से कम करके मेहनतकशों के शरीर से खून का एक-एक कतरा चूसने की छूट।

सरकारी खर्च में अधिकतम गुणवत्ता

यानी मितव्ययिता के नाम पर सब्सिडी में कटौती।

मुद्रास्फीति घटाने के लिए बजट घाटे में कमी

इसी बहाने सार्वजानिक क्षेत्र में सरकारी खर्च में कटौती तथा शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी सेवाओं का और अधिक निजीकरण।

यह सरकार संप्रग सरकार का नकारात्मक नकार है, मेहनतकश जानता के लिए उससे भी घातक।

नयी सरकार के लिए सौ दिन की एक कार्ययोजना अमरीका के एक वरिष्ठ सीनेटर ने भी पेश की है, जो भारत के लिए लॉबिंग करते हैं। रक्षा क्षेत्र के विदेशी निवेश, ढाँचागत क्षेत्र में विदेशी निवेश, ऊर्जा क्षेत्र में विदेशी निवेश, भारत-अमरीका रणनीतिक साझेदारी को आगे बढ़ाना।

उस कार्ययोजना और नयी सरकार की कार्ययोजना में कई बातें समान हैं, भाषा का फर्क तो रहेगा ही। अमरीकीयों को बातों पर मुलम्मा चढ़ाने की न तो आदत है और न कोई मजबूरी। उन्हें परिणाम चाहिए।

आम चुनाव पर मीडिया का प्रभाव

–विक्रम प्रताप

सीएमएस मीडिया लैब के एक अध्ययन के मुताबिक टीवी प्रसारण के प्राइम-टाइम में 33.21 प्रतिशत यानी 2575 मिनट का समय भाजपा की ओर से प्रधानमंत्री पद की दौड़ में शामिल नरेन्द्र मोदी को मिला। जबकि अरविन्द केजरीवाल को 10.31 प्रतिशत और राहुल गांधी को 4.33 प्रतिशत समय दिया गया। हालांकि प्रधानमंत्री पद की इस दौड़ में नरेन्द्र मोदी के अलावा दूसरा कोई घोषित उम्मीदवार नहीं था। सी एम एस मीडिया लैब स्वतंत्र और गैर-पक्षपाती मीडिया शोध संस्थान के रूप में जाना जाता है। इस अध्ययन में पाँच बड़े चैनलों- आज तक, एबीपी न्यूज, जी न्यूज, एनडीटीवी और सीएनएन-आईबीएन को शामिल किया गया था। इसमें इन चैनलों द्वारा प्रसारित एक मार्च से 30 अप्रैल के बीच के प्राइम-टाइम को चुना गया। प्राइम-टाइम रोजाना शाम 8 से 10 बजे तक का समय होता है जब टीवी पर प्रसारित कार्यक्रम को सबसे अधिक लोग देखते हैं। मई के पहले सप्ताह में स्थिति और बदल गयी। पहले पायदान पर मीडिया की सुर्खियों में रहने वाले मोदी ने खबरों का 40 प्रतिशत हिस्सा हासिल किया। जबकि दूसरे स्थान पर अमित शाह थे जो इशरत जहाँ फर्जी मुठभेड़ मामले में गुजरात से सूबाबदर किये जाने के बाद उत्तर प्रदेश के भाजपा चुनाव प्रभारी नियुक्त किये गये थे और खुद कहीं से भी चुनाव नहीं लड़ रहे थे। ऊपर के 10 स्थानों में दक्षिण भारत का कोई नेता शामिल नहीं था। जबकि मात्र 10 सीटों पर चुनाव लड़ने वाली मनसे पार्टी के राज ठाकरे नवें और तृणमूल कांग्रेस की ममता बनर्जी दसवें पायदान पर थी। इस तरह मोदी और उनकी पार्टी ने अपने कुशल मीडिया प्रबन्धन के जरिये खबरों की दुनिया से विरोधी पार्टियों का लगभग सफाया कर दिया। गुजरात दंगे के बाद से मीडिया ने लगातार मोदी को दंगे के लिए जिम्मेदार नेता के रूप में पेश किया। लेकिन रातों-रात ऐसा क्या हो गया कि मीडिया के सुर बदल गये और वह मोदी को विकास पुरुष के रूप में पाचारित करने लगी।

चुनाव-2014 में राजनीतिक पार्टियों के वोट प्रतिशत और मीडिया में खबरों के समय के बीच तुलना की जाए तो पता चलता है कि दोनों में गजब की समानता है। जैसे मोदी को समाचार प्रसारण का 33.21 प्रतिशत समय मिला जबकि चुनाव में उनकी पार्टी को कुल 31 प्रतिशत वोट मिले जिससे वह चुनाव जीतकर अकेले दम पर बहुमत में आ गयी। जबकि कांग्रेस को 19.3 प्रतिशत वोट मिले और उसे मीडिया में भी मोदी की तुलना में 10 प्रतिशत कम समय दिया गया। इस तरह इस चुनाव के नतीजे को मीडिया ने काफी हद तक प्रभावित किया। नरेन्द्र मोदी को सत्ता तक पहुँचाने में मीडिया की भूमिका से इनकार नहीं किया जा सकता। दरअसल जब से खबरों की दुनिया में इलेक्ट्रोनिक और प्रिंट मीडिया का वर्चस्व हुआ है तब से इसने काफी हद तक लोगों की राय को प्रभावित किया है। लेकिन इस चुनाव में निष्पक्षता छोड़कर जिस बेशर्मी से मीडिया अपने चहेते नेताओं के पक्ष में हवा बनाने में लगा था, वैसा इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। इसे देखकर यह सवाल उठना लाजिमी है कि क्या लोकतान्त्रिक तरीके से कराया जाने वाला चुनाव अब मीडिया के हाथ का खेल बन गया है?

इस चुनाव में राजनीतिक पार्टियाँ और उनके घोषणापत्र हाशिये पर धकेल दिये गये। महँगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार और बढ़ते अपराध जैसे मुद्दे पूरी तरह खबरों से गायब थे। एक ओर जहाँ भ्रष्टाचार में आकंठ डूबी कांग्रेस सरकार के लिए यह राहत की बात थी, तो वहीं दूसरी ओर भाजपा के लिए भी यह एक वरदान से कम नहीं थी। उसने महँगाई, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार और बढ़ते अपराध जैसे मुद्दों पर बिना किसी आश्वासन के चुनाव जीत लिया। अब नयी सरकार ऐसी किसी प्रतिबद्धता में नहीं बंधी है, जिससे वह इन समस्याओं का समाधान करने के लिए बाध्य हो। बहुत ही शातिराना तरीके से मीडिया ने इन मुद्दों को चुनाव से दूर रखा। यही वजह रही कि जहाँ खासमखास व्यक्तियों को प्रसारण का 40 प्रतिशत समय दिया गया वहीं राजनीतिक पार्टियों को 20 प्रतिशत से भी कम समय मिला। 2009 के चुनाव से ठीक पहले दर्शकों में आईपीएल मैच का जबरदस्त मोह था। लेकिन इस बार चुनाव के दौरान लोगों की मैच में ज्यादा रूचि नहीं थी। पिछले 5 सालों में लोगों का व्यवस्था से मोह भंग हो गया। अन्ना आन्दोलन और आम आदमी पार्टी

के उदय के पीछे यही मोहभंग काम कर रहा था। धीरे-धीरे ख़ास तौर से शिक्षित तबके का रुझान राजनीति में बढ़ने लगा था। मीडिया ने इसे बखूबी भुनाया। मीडिया लोगों के जेहन में अपने पसंदीदा प्रत्याशी की छवि भरने में कामयाब रहा। अलग-अलग भाषाओं में कई चैनलों पर प्रत्याशियों के पक्ष में धुंआधार प्रचार किया गया। चुनाव समाचार हॉट केक की तरह बिका। इतिहास में पहली बार इतने चैनलों ने एक साथ केवल नरेन्द्र मोदी की छवि बनाने का काम किया। दरअसल कांग्रेस ने अपने खिलाफ जनादेश को भाँप लिया था, इसीलिए उसने चुनाव में जोर-आजमाइस से परहेज किया। लेकिन भाजपा भी जनादेश को जानती थी। उन्हें पता था कि कांग्रेस के खिलाफ होने के बावजूद भी यह जरूरी नहीं है कि जनता उनकी पार्टी को इस चुनाव में जीत दिलाये। क्योंकि भारतीय लोकतंत्र में क्षेत्रीय पार्टियाँ सरकार बनाने-बिगाड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती आयी हैं। बाजी हाथ से फिसल न जाय इसलिए भाजपा ने कोई कोर कसर छोड़ना उचित नहीं समझा। इसके लिए कई तरह के हथकंडे अपनाए गये इनमें मीडिया प्रबन्धन एक है।

चुनाव के दौरान मीडिया में मोदी के छाये रहने के पीछे क्या कारण थे? क्या यह बिकाऊ मीडिया द्वारा जनहित में चलाया गया अभियान था? या टीवी रेटिंग प्वाइंट बढाने की कवायद मात्र थी। कुछ भी हो, इससे किसे सबसे अधिक फायदा मिला, यह तो निर्विवाद है। इण्डिया टीवी की रेटिंग उस समय 60 प्रतिशत बढ़ गयी, जब उसने नरेन्द्र मोदी का इंटरव्यू प्रसारित किया। समय-समय पर मोदी की मां और भाई को दिखाया गया और एक चाय वाले से मुख्यमंत्री तक की यात्रा के जरिये दर्शकों को भावनात्मक रूप से बरगलाया गया। जी-नेटवर्क पर प्राइम-टाइम में "2014 का सबसे बड़ा इंटरव्यू" के शीर्षक से रोज मोदी का इंटरव्यू दिखाया गया। इन सब ने मिलकर मोदी की छवि बनाने में बड़ी भूमिका निभाई।

चुनाव-2014 में लोकसभा की कुल 543 सीटों में 282 पर भाजपा ने अकेले जीत दर्ज की जबकि गठबंधन को 337 सीटें मिलीं। इस चुनाव में 82 करोड़ मतदातों में से लगभग 66 प्रतिशत यानी 55 करोड़ लोगों ने अपने मताधिकार का इस्तेमाल किया। भाजपा को कुल 31 प्रतिशत वोट मिले यानी केवल 17.05 करोड़ लोगों ने भाजपा के पक्ष में वोट दिया। जबकि 82 करोड़ मतदाताओं में से 64.95 करोड़ ने भाजपा को वोट नहीं दिया। भारतीय लोकतांत्रिक प्रणाली की यह एक खतरनाक विसंगति है। फिलहाल भाजपा को 17.05 करोड़ लोगों को लुभाने में बहुत पापड़ बेलने पड़े। हिन्दुस्तान टाइम्स की एक खबर के अनुसार भाजपा ने नरेंद्र मोदी की छवि बनाने के लिए मीडिया प्रबंधन पर लगभग 5000 करोड़ रुपये खर्च किये। अन्य स्रोतों का अनुमानित खर्च इससे काफी अधिक है। इस तरह देखा जाय तो उन्हें जितने भी वोट मिले उसमें प्रति व्यक्ति वोट की कीमत लगभग 300 रुपये है। अरे, यह तो बहुत कम में सौदा निपट गया! यह किसी मजदूर के लिए एक दिन की अच्छी दिहाड़ी है, जब वह केवल इसे एक ठप्पा लगाकर कमा सकता है। लेकिन यह पैसा तो उन लोगों तक पहुचा भी नहीं जो मोदी जी को वोट डाल आये। ऐसी स्थिति में इस देश के लोकतंत्र की हालत समझी जा सकती है। इस खर्च के स्रोत का पता लगाना कतई मुश्किल काम नहीं है। द स्टेट्समैन समाचार पत्र के अनुसार प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के बेहद करीबी गुजरात के उद्योगपति गौतम अदानी की सम्पत्ति 2001 में 6 करोड़ थी जो आज बढ़कर 84,000 करोड़ रुपये हो गयी है। 13 सालों में किसी भी व्यापार में 14 हजार गुने की वृद्धि आजतक कहीं भी नहीं देखी या सुनी गयी।

नॉम चोम्स्की और एडवर्ड एस हर्मन ने 1988 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ''सहमति गढ़ना : जन माध्यमों का राजनीतिक अर्थशास्त्र'' में जन संचार माध्यमों में प्रचार और लगातार तरफदारी के प्रभाव की चर्चा करते हुए बताया कि जनता के दिमाग में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों और नीतियों के पक्ष में सहमति गढ़ी जाती है। इसके पीछे विज्ञापन और मीडिया के मालिकाने की बुनावट की जबरदस्त भूमिका है।

पिछले कुछ वर्षों में मीडिया घराने बड़े व्यावसायिक घरानों में बदल गये हैं। बड़े पूँजीपति मीडिया में भारी पूँजी लगाकर उस पर कब्जा जमा रहे हैं। नेता, राजनीतिक पहुँच वाले लोग, मीडिया में हिस्सेदारी और उस पर नियंत्रण कायम करने की जी तोड़ कोशिश कर रहे हैं। बड़े पूँजीपति घरानों का मीडिया पर वर्चस्व कायम होने का ही नतीजा है कि उन्होंने अपने पसंदीदा व्यक्ति को प्रधानमंत्री उम्मीदवार के रूप में खूब बढ़चढ़ कर प्रचारित किया। कारण यह कि मोदी ने आर्थिक सुधारों, पूँजी निवेश और विकास के गुजरात मॉडल का जो वादा किया, वह कॉरपोरेट घरानों के मनमाफिक था।

मीडिया पर चन्द घरानों के वर्चस्व का ही नतीजा था

कि जिस केजरीवाल को मीडिया ने कांग्रेस के खिलाफ रातोंरात उछाला था, उन्हें पूरी तरह हाशिये पर फेंक दिया, जब वे पूँजीपतियों के भ्रष्टाचार की बात करने लगे, गुजरात मॉडल की हकीकत सामने लाने लगे, दरबारी पूँजीवाद (क्रोनी कैपिटलिज्म) की बुराई बताने लगे और खास तौर पर रिलायन्स कम्पनी पर ऊँगली उठाने लगे। मीडिया कम्पनियों में रिलायन्स की साझेदारी कोई छिपी हुई बात नहीं अपने मालिकों के स्वार्थ में बाधा खड़ी करने पर मीडिया किसी को भी रातोंरात फर्श से अर्श पर और अर्श से फर्श पर पहुँचाने में समर्थ है। यह इस चुनाव में पूरी तरह साबित हो गया है।

टीवी के माध्यम से चुनाव प्रचार के कई निहितार्थ हैं। इससे चुनाव की पूरी लोकतांत्रिक प्रक्रिया प्रभावित हुई है। टीवी की पहुँच घर-घर तक है। टीवी पर पकड़ बनाकर कोई भी पार्टी या उसका नेता चुनाव को अपने पक्ष में मोड़ सकता है। इसके लिए उसे बस धन-बल से इन माध्यमों पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लेना है। इसके साथ ही अगर मीडिया के मालिकों को इस बात का यकीन हो जाए कि अमुक पार्टी इस चुनाव में बढ़त बना सकती है, तो बेहद चापलूसी भरे अंदाज में उस पार्टी को रातों-रात बुलंदी पर पहुँचा देते हैं। ऐसी स्थिति में चुनाव तो होते हैं और कोई न कोई पार्टी जीत भी जाती है लेकिन यह जीत जनतंत्र पर धनतंत्र की जीत है। चुनाव में कोई भी पार्टी जीते जनता हर बार हारती है।

❑

फैज की एक नज्म आज के अँधेरे दौर पर

सामंतवाद से लड़ाई के अपने यौवन-काल में पूँजीवादी लोकतंत्र के पुरोधाओं में से एक, वाल्तेयर ने कहा था कि मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बात गलत है, लेकिन उस बात को कहने का तुम्हारा अधिकार बरकरार रहे, इसके लिए मैं अपनी जान दे सकता हूँ।

पूँजीवाद के बुढ़ापे के युग में या विकृत-विकलांग पूँजीवादी समाजों में ऐसी बातें बीते जमाने की बात हो चुकी हैं। हर जगह जुबानों पर ताला, हर जगह स्वतंत्र विचारों के कातिल। व्यवस्था के चाटुकार साहित्यकार, भाड़े की कलम के कुली-कबाड़ी इस कुकर्म में निर्लज्ज सहभागी बने हुए हैं। इस बात पर फैज की एक छोटी सी नज्म बेहद मौजूँ है।

इधर न देखो
के जो बहादुर कलम केः या तेग के धनी थे
जो अज्मो-हिम्मत के मुद्दई थे
अब उनके हाथों में सिद्क ईमाँ की
आजमूदः पुरानी तलवार मुड़ गयी है
जो कज कुलह साहबे-चश्म थे
जो अहले-दस्तार मोहतरम थे
हविस के परपेंच रास्तों में
कुलह किसी ने गिरो रख दी
किसी ने दस्तार बेच दी है

उधार भी देखो
जो अपने रख्शाँ लहू के दीनार
मुफ्त बाजार में लुटा कर
नजर से ओझल हुए
और अपनी लहद में इस वक्त तक गनी हैं

उधर भी देखो
जो सिर्फ हक की सलीब पर अपना तन सजा कर
जहाँ से रुकसत हुए
और अहले-जहाँ में इस वक्त तक बनी हैं।

दलितों पर ज़ुल्म की अन्तहीन दास्तान

–हेमन्त

जब हरियाणा के गाँव भगाणा में बर्बर जातीय उत्पीड़न के मामले की ताजा शिकार 13 वर्षीय मंजू गाँव के ही जाट दबंगों द्वारा सामूहिक बलात्कार की शिकार अन्य तीन दलित लड़कियों के साथ 16 अप्रैल से राजधानी दिल्ली में जंतर मंतर पर न्याय की माँग को लेकर धरने पर बैठी हुई है तब राष्ट्रीय समाचार पत्रों में पूरे पृष्ठ का एक सरकारी विज्ञापन छप कर आता है। इसमें उत्पीड़ित दलित मासूम लड़कियों की हमउम्र मुस्कुराती हुई तीन लड़कियों का चित्र शीर्ष पर छपा है और नीचे मशहूर श्लोक ''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते...'' के साथ यह दावा करते हुए विज्ञापन आगे बढ़ता है कि महिलाओं के विरुद्ध होने वाले छोटे से छोटे अपराध को भी सख्त सजा के साथ निपटाया जायेगा। इसमें आगे विभिन्न कानूनी प्रावधानों और उनको अंजाम देने वालों के लिए सजा के प्रावधान तरतीबवार दिये गये हैं। पूरे देश को आन्दोलित कर देने वाले कुख्यात निर्भया काण्ड के बाद भारतीय दण्ड संहिता में किये संशोधनों को भी स्वाभाविक रूप से इनमें शामिल किया गया है। विज्ञापन का अंत ''आइये हम सभ्यता की गोद यानी नारीत्व को सम्मान और सुरक्षा दें।'' जैसे शब्दाडम्बरपूर्ण उद्‌बोधन के साथ होता है।

इस उद्‌बोधन को झूठा साबित करते हुए कुछ दिनों बाद ही खबर छपती है कि बदायूँ, उत्तर प्रदेश के कटरा गाँव में दो दलित लड़कियों को सामूहिक बलात्कार का शिकार बनाये जाने के बाद हत्या करके उनके शवों को पेड़ से लटका दिया गया।

दरअसल जमीनी सच्चाई यह है कि घिनौनी जाति व्यवस्था से लिथड़े समाज में जहाँ जाति ही सर्वाधिक निर्णायक तत्व हो वहाँ संविधान, कानून और सजा के प्रावधान भौंथरे साबित होते हैं। जब दबंग जातियाँ बेखौफ रोज-ब-रोज दलितों पर जुल्म करती हों और सामन्ती खाप पंचायतें संविधान और कानूनी प्रावधानों का खुल्लम-खुल्ला मखौल उड़ाती हों, शासन-प्रशासन, पुलिस, न्यायलय सभी इस दबंगई में शामिल रहते हों, जहाँ नारी अपमान और बलात्कार की घटनाओं को राजनेता भी हल्के-फुल्के ढंग से लेते हों वहाँ इंसाफ की बात करना एक भद्‌दे मजाक से ज्यादा कुछ नहीं है।

21वीं सदी के 'विकासमान' भारत की यही क्रूर सच्चाई है। हाल ही में महाराष्ट्र के गाँव खरदा में 17 वर्षीय दलित विद्यार्थी की हत्या सिर्फ इसलिए कर दी गयी क्योंकि उसने एक उच्च वर्ण की लड़की से बात करने की हिमाकत कर दी थी। कुछ अरसा पहले उत्तर भारत के गोहाणा काण्ड की तर्ज पर दक्षिण भारत में तमिलनाडू के धरमपुरी की दलित बस्ती पर गिरोहबंद हमला करके मात्र इसलिए तबाह कर दिया गया, क्योंकि एक दलित युवक और सवर्ण युवती ने प्रेम विवाह कर लिया था। युवती को सामाजिक दबाव के चलते विवाह बन्धन तोड़ना पड़ा और अंततः दलित युवक को संदिग्ध परिस्थितियों में मृत पाया गया।

नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के मुताबिक भारत में प्रत्येक घण्टे में दो दलितों को जातीय हिंसा का शिकार बनाया जाता है जबकि हर रोज तीन दलित महिलाएँ बलात्कार का शिकार बनती हैं, हर घण्टे दो दलितों की हत्या होती है और दो दलितों के घरों को जलाया जाता है। एनसीआरबी के अनुसार अनुसूचित जाति-जनजातियों के विरुद्ध होने वाले अपराधों में पुलिस के द्वारा दलित उत्पीड़न के मामले भी सामने आते हैं। मसलन पुलिस हिरासत में पिटाई, अवैध रूप से छापे, उच्च जाति के प्रभाव में आकर दलितों के खिलाफ गैर कानूनी कार्रवाई, दलितों के उत्पीड़न के मामलों में प्राथमिकी दर्ज न करना इत्यादि।

एमनेस्टी इंटरनेशनल की एक रिपोर्ट के अनुसार उच्च जातियों, जमींदारों और पुलिस कर्मियों द्वारा दलित महिलाओं के साथ किये गये दुराचारों और बलात्कार आदि के सिर्फ पाँच प्रतिशत मामले ही दर्ज हो पाते हैं। बाकी या तो डरा-धमकाकर दबा दिये जाते हैं या फिर उनकी प्राथमिकी ही दर्ज नहीं की जाती है।

हरियाणा जातीय दमन की प्रयोगशाला

हरियाणा के गाँव भगाणा, हिसार की चार नाबालिक लड़कियों को गाँव के ही जाट दबंगों द्वारा 23 मार्च को उस समय अगुआ कर लिया गया जब वे शाम को शौच के लिए खेतों की तरफ गयीं थीं। उन्हें बेहोशी की दवा सुंघाकर उनके साथ गिरोहबंद बलात्कार किया गया। दो दिन बाद उन्हें पंजाब के भटिण्डा स्टेशन के पास से बुरी हालत में पाया गया। हमेशा की तरह दलितों को इस मामले में भी प्राथमिकी दर्ज कराने

के लिए थाने पर धरना-प्रदर्शन करना पड़ा। उसके बाद भी सरपंच सहित कुल 12 आरोपियों में से केवल 5 दोषियों को ही गिरफ्तार किया गया है।

उल्लेखनीय है कि भगाणा में दलितों पर जुल्म की यह पहली घटना नहीं है। वर्ष 2012 में जब भगाणा गाँव के दबंग सार्वजनिक जमीन पर कब्जा करना चाहते थे तो दलितों ने इसका पुरजोर विरोध किया जिसके चलते उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। काफी संघर्ष के बाद भी जब भगाणा के दलितों को हरियाणा सरकार से न्याय नहीं मिला तो उन्हें गाँव छोड़ना पड़ा। तब से 132 दलित परिवार आज भी हिसार कलैक्ट्रेट पर न्याय के इंतजार में डेरा डाले हुए हैं। इस बीच ताजा मामले में भी भगाणा के 90 दलित परिवार 16 मार्च से जंतर मंतर पर धरना दे रहे हैं लेकिन कोई सुनवाई नहीं हो रही है।

देश की राजधानी दिल्ली से सटे और सबसे अधिक विकसित राज्य होने का दावा करने वाले हरियाण प्रदेश में 21वीं सदी के सबसे क्रूर और बर्बर जातीय जुल्म के अनगिनत मामले सामने आये हैं। भगाणा के विरेन्द्र भगोरिया दलित उत्पीड़न की नब्ज पर हाथ रखते हुए बताते हैं कि अगर दलितों के पास जमीनें होतीं तो उनका उत्पीड़न नहीं होता, उनका सामाजिक बहिष्कार नहीं होता। हाल ही में जाति उन्मूलन आन्दोलन की दिल्ली इकाई द्वारा दलितों पर जुल्मों की घटनाओं के खिलाफ आयोजित सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा कि हरियाणा में असली सरकार मध्ययुगीन खाप पंचायतें चला रहीं हैं और किसी भी अपराध में उनके खिलाफ कार्रवाई नहीं होती है।

यहाँ यह समझना जरूरी है कि तथाकथित 'विकास' की अवधारणा और सामाजिक न्याय, आय एवं संसाधनों के बँटवारे के बीच कोई सह-सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी जानने की जरूरत है कि बिहार के भूस्वामियों की कुख्यात सेनाओं की हरियाणा में कभी जरूरत नहीं पड़ेगी क्योंकि वे घोर सामन्ती खाप पंचायतों के रूप में पहले से ही वहाँ सामाजिक तंत्र के सबसे ताकतवर केन्द्र में मौजूद हैं, जिसकी कही हुई बात मुख्यमंत्री भी नहीं टाल सकते। वे इन्हें कभी एनजीओ और कभी सांस्कृतिक-सामाजिक संगठन का नाम देकर इनका बचाव करते हैं और संविधान की धज्जियाँ उड़ाते हैं। इसी प्रकार यह समझना भी मुश्किल नहीं है कि आरक्षण के चलते दलितों के एक हिस्से को सत्ता-शासन में मिली मामूली भागेदारी से एक सामान्य और भूमिहीन दलित के जीवन में कोई बदलाव नहीं आया है। हरियाणा में दलितों और जाटों की आबादी लगभग समान है। 20-22 प्रतिशत जाटों का पूरे हरियाणा की कृषि भूमि के बड़े भाग पर कब्जा है। प्रशासन के तमाम महत्त्वपूर्ण अंग चाहे वह पुलिस हो या प्रशासन, विधायिका हो या न्यायपालिका सभी पर दबंगों का वर्चस्व कायम है। इसी सबके चलते खेती की पैदावार के लिए मशहूर हरियाणा की जमीन जनान्दोलनों के मामले में बजंर साबित हुई है। ऐसे में दलितों पर अत्याचार के मामलों में प्रतिरोध की आवाज का गला घोंट दिया जाता है और दलितों के संरक्षण के लिए बनाये गये कानून और आयोग बेअसर साबित होते हैं।

इस तरह यह कहा जा सकता है कि मूल समस्या है संसाधनों के मालिकाने की। हरियाणा में भूमि सुधार को लेकर कभी कोई आन्दोलन नहीं हुआ। एक ओर दलितों की भूमिहीनता और साधनहीनता तथा दूसरी ओर अपने अस्तित्व के लिए भूस्वामियों पर निर्भर दलितों के ऊपर जब वर्चस्ववादी तबके सामाजिक बंदिशें आयद करते हैं तो रोजगार से लेकर जलावन-चारे और हगने-मूतने जैसी स्वाभाविक क्रियाओं के लिए भी दबंगों की जमीनों पर निर्भर दलितों की कमर टूट जाती है।

इस पूरे परिदृश्य में दलित महिलाओं की स्थिति सबसे नाजुक होती है। उन्हें कई मोर्चों पर उत्पीड़न झेलना पड़ता है। दलितों की ओर से किसी भी तरह के प्रतिरोध के दमन के लिए दबंगों द्वारा दलित महिलाओं पर हमले बढ़ जाते हैं। इसलिए यह अनायास नहीं है कि दलितों पर हिंसा के मुद्दे पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी समय-समय पर चिंता जाहिर की है। और भारत में आदिवासी /दलित महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा, यौन शोषण, मानव तस्करी और उन्हें वेश्यावृत्ति में जबरन धकेले जाने की घटनाओं पर गहरा असंतोष व्यक्त किया है और भारत सरकार को कहा गया है कि वह इस तरह की समस्याओं से निपटने के लिए विशेष अदालतें और कार्यबल गठित करे। साथ ही यह भी अपील की गयी है कि वह पुलिस, न्यायाधीशों और वकीलों को अनुसूचित जाति और जनजाति (अत्याचार निरोध) कानून के सम्बन्ध में प्रशिक्षण दे।

प्रशासन का रवैया

''अछूतों को क्या झेलना पड़ता है'' शीर्षक लेख के ''प्रशासन का शत्रुतापूर्ण रवैया'' नामक उपलेख में दलितों के प्रति प्रशासन की संवेदनहीनता पर विचार करते हुए डॉ. अम्बेडकर टिप्पणी करते हैं कि ''... शायद यह सोचा गया कि समान न्याय का यह सिद्धान्त मौजूदा भेदभाव पर स्थापित

व्यवस्था पर जानलेवा चोट करेगा। लेकिन सच्चाई यह है कि स्थापित व्यवस्था पर चोट करने की बात तो दूर रही यह (व्यवस्था) पहले की ही भांति जस की तस अपना काम करती जा रही है। यह सवाल किया जा सकता है कि समानता का सिद्धान्त अपना असर दिखाने में नाकामयाब रहा। इसका जवाब आसान है। न्याय के सिद्धान्त की घोषणा एक बात है और उसे प्रभावी ढंग से लागू करना दूसरी बात है। न्याय का सिद्धान्त प्रभावकारी है या नहीं यह जरूरी तौर पर सिविल सेवाओं की प्रकृति और चरित्र पर निर्भर करता है, जिन पर इस सिद्धान्त को लागू करने की जिम्मेदारी होती है...।'' यहाँ जेएनयू के प्रोफेसर तुलसीराम द्वारा जाति उन्मूलन आंदोलन के बैनर तले आयोजित सम्मेलन में की गयी टिप्पणी काबिलेगौर है। वे बताते हैं कि दलितों पर अत्याचार के पीछे हिन्दू धर्म की मान्यताएँ काम कर रही हैं। वे बताते हैं कि कौटिल्य की किताब 'अर्थशास्त्र' जिसमें जाति प्रथा को मान्यता देते हुए एक ही अपराध के लिए सवर्णों और दलितों के प्रति सजा के घोर असमान प्रावधान दिये गये हैं, मसूरी स्थित लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी में भावी प्रशासनिक अधिकारियों को प्रशिक्षण के दौरान यह किताब पढ़ाई जाती है। ऐसे में स्वाभाविक है कि उस अकादमी से दीक्षित होकर निकलने वाले आईएएस अधिकारी दलित उत्पीड़न के मामलों को दरकिनार कर दें।

डॉ. अम्बेडकर ने ऊपर वर्णित लेख में सही ही कहा था कि यदि अपने वर्गीय चरित्र के चलते वर्गीय पूर्वाग्रही सिविल सेवाएँ स्थापित व्यवस्था के मित्र और नयी व्यवस्था के शत्रु हैं तो नयी व्यवस्था कभी भी अस्तित्व में नहीं आ सकती। डॉ. अम्बेडकर मानते थे कि दुर्भाग्य से अंग्रेजी निजाम ने सिविल सेवाओं में आने वाले व्यक्तियों के विषय में कभी भी विचार नहीं किया। बल्कि वास्तव में इसने प्रशासन के दरवाजे उन लोगों के लिए खोल दिये जिनका विश्वास हिन्दुओं की उस स्थापित वर्ण व्यवस्था में था जिसमें समानता के सिद्धान्त के लिए कोई जगह नहीं थी। इस सच्चाई का परिणाम यह हुआ कि भारत में राज तो अंग्रेजों का रहा पर प्रशासन पर कब्जा हिन्दुओं (सवर्णों) का रहा। डॉ. अम्बेडकर आगे लिखते हैं कि राजधानी से लेकर ठेठ गाँव तक का प्रशासन सवर्णों के जाल में फंसा हुआ है। यदि सवर्ण मौजूदा व्यवस्था पर कब्जा जमाए हुए हैं तो सिर्फ इसलिए कि इसे राजसत्ता में बैठे सवर्ण अधिकारियों से कभी न चूकने वाली मदद मिलती है। यदि कोई अछूत किसी सवर्ण के खिलाफ शिकायत दर्ज कराने जाता है तो उसे संरक्षण की बजाए ढेरों गालियाँ मिलती हैं। या तो उसे धक्का देकर बाहर कर दिया जाता है या यदि उसकी शिकायत दर्ज भी की गयी तो वह इस तरह के झूठ से लिखी जायेगी ताकि सवर्ण अत्याचारी आसानी से बच निकले। यदि मामला अदालत तक पहुँचता भी है तो गवाह नहीं मिलते और अगर गवाह मिल भी जाएँ तो न्यायाधीश उनकी गवाही को मान्यता नहीं देता। वह ऐसा बेखौफ होकर कर सकता है क्योंकि उसे मालूम है कि ऊपरी अदलतें भी उसके फैसलों को उलटेगी नहीं।

'द हिन्दू' में प्रकाशित लेख 'ए सिस्टम अगेंस्ट दलित्स' में विद्या सुब्रहमण्यम लिखती हैं कि ''हरियाणा में दलितों के खिलाफ हिंसा निरन्तर जारी है। प्रायः यह हिंसा बर्बर शारीरिक हमलों के रूप में प्रकट होती है लेकिन एक मनोदशा के रूप में यह सदैव विद्यमान रहती है।... इसी तरह ऐसे अनगिनत अत्याचार रोज होते हैं जिनसे चोट पीड़ित की आत्मा पर और समूचे दलित समुदाय के स्वाभिमान और अस्मिता पर होती है। संस्थागत पूर्वाग्रह दलितों के जीवन की बहुत पुरानी सच्चाई है।... यह त्रासदी ऐतिहासिक रूप से सताये गये दलितों के प्रति राज्य मशीनरी की संवेदनहीनता की जिन्दा मिसाल है।

अक्सर मौन रहने वाले हमारे पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने भी अपने कार्यकाल के दौरान स्वीकार किया कि बीते दिनों में हमने अनुसूचित जाति और जनजातियों पर अत्याचार के विचलित कर देने वाले मामले देखे हैं... कई बार ऐसे मामलों की देखरेख के दौरान प्रशासन की काहिली और संवेदना की कमी की दिल दहला देनेवाली रिपोर्टें मिलती हैं... मैं विश्वास करता हूँ कि गम्भीर आत्मनिरीक्षण का समय आ गया है और मौजूदा तौर-तरीकों एवं रणनीतियों की समीक्षा के लिए समय पक गया है...।'' लेकिन कांग्रेस शासित हरियाण सरकार के न तो तौर-तरीकों और न ही रणनीतियों में कोई बदलाव आया न ही दलितों पर जुल्म के मामलों पर रोक लगी। आने वाले अच्छे दिनों के नारे के साथ हिन्दुत्ववादी भाजपा की सरकार की शुरूआत में ही दलितों पर अत्याचार तेज होने लगे हैं। वैसे भी जातिवादी भाजपा शासन से न्याय की उम्मीद कम ही है। असल में यह मामला सीधे-सीधे शासकों और शोषितों के बीच वर्णीय और वर्गीय गैरबराबरी से नियंत्रित होने वाली शोषणकारी व्यवस्था का है जिसकी जड़ में उत्पादन के संसाधनों पर वर्चस्व का सवाल मौजूद है। ऐसे में आमूल परिवर्तन के लक्ष्य के साथ वर्तमान व्यवस्था के मौजूदा अंगों को जवाबदेह बनाने के फौरी कार्यभार भी हाथ में लेने होंगे। ***शेष पृष्ठ 14 पर***

बस, बहुत हो चुका

–आनन्द तेलतुंबड़े

यह परिदृश्य उत्तर प्रदेश के बदायूँ जिले के कटरा गाँव का है। दो दलित लड़कियों की लाश पेड़ से टंगी हुई है और तमाशबीनों की एक भीड़ हैरानी से खड़ी देख रही है। यह तस्वीर हमारे राष्ट्रीय चरित्र को सबसे अच्छे तरीके से बयान करती है। हम कितना भी अपमान बर्दाश्त कर सकते हैं, किसी भी हद की नाइंसाफी सह सकते हैं और पूरे सब्र के साथ अपने आस-पास की किसी भी फालतू बात को कबूल कर सकते हैं। यह कहने का कोई फायदा नहीं कि वे लड़कियाँ हमारी अपनी बेटियाँ और बहनें थीं, हम तब भी इसी तरह हैरानी और निराशा से भरे हुए उन्हें उसी तरह ताकते रहे होते, जैसी भीड़ में दिख रहे लोग ताक रहे हैं। सिर्फ पिछले दो महीनों में ही, जबकि हमने एक देश के रूप में नरेन्द्र मोदी और अच्छे दिनों के उसके वादे पर अपना वक्त बरबाद किया, पूरे देश में दलित किशोरों और किशोरियों के घिनौने बलात्कारों और हत्याओं की एक बाढ़ सी आ गयी।

लेकिन इस फौरन उठने वाले गुस्से से अलग, इन उत्पीड़नों के लिए सचमुच की कोई चिंता मुश्किल से ही दिखती है। शासकों को इससे कोई सरोकार नहीं है, मीडिया की इसमें कोई दिलचस्पी नहीं है और फिर इसको लेकर प्रगतिशील तबका उदासीन है और खुद दलितों में भी ठण्डा रवैया दिख रहा है। यह शर्मनाक है कि हम दलितों के बलात्कार और हत्या को इस तरह लेते हैं कि वे हमारे सामाजिक ताने-बाने का अटूट हिस्सा हैं और फिर हम उन्हें भुला देते हैं।

मनु का फरमान नहीं हैं बलात्कार

जब भी हम जातियों की बातें करते हैं, तो हम शतुरमुर्ग की तरह एक मिथकीय अतीत की रेत में अपना सिर धंसा लेते हैं और अपने आज के वक्त से अपनी आँखें मूँद लेते हैं। हम पूरी बात को आज के वक्त से काट देते हैं, जिसमें समकालीन जातियों का ढाँचा कायम है और अपना असर दिखा रहा है। यानी हम ठोस रूप से आज के बारे में बात करने की बजाय अतीत के किसी वक्त के बारे में बातें करने लगते हैं। आज जितने भी घिसे-पिटे सिद्धान्त चलन में हैं वे या तो यह सिखाते हैं कि चुपचाप बैठे रहो और कुछ मत करो या फिर वे जाति की पहचान का जहर भरते हैं- जो कि असल में एक आत्मघाती प्रवृत्ति है। वे हमारे शासकों को उनकी चालाकी से भरी नीतियों के अपराध से बरी कर देते हैं जिन्होंने आधुनिक समय में जातियों को जिन्दा बनाये रखा है। यह सब सामाजिक न्याय के नाम पर किया गया। संविधान ने अस्पृश्यता को गैरकानूनी करार दिया, लेकिन जातियों को नहीं। स्वतंत्रता के बाद शासकों ने जातियों को बनाये रखना चाहा, तो इसकी वजह यह नहीं थी कि वे सामाजिक न्याय लाना चाहते थे बल्कि वे जानते थे कि जातियों में लोगों को बाँटने की क्षमता है। बराबरी कायम करने की चाहत रखने वाले एक देश में आरक्षण एक ऐसी नीति हो सकता है, जिसका इस्तेमाल असाधारण मामले में, अपवाद के रूप में किया जाय। औपनिवेशिक शासकों ने इसे इसी रूप में शुरू किया था। 1936 में, अनुसूचित जातियाँ ऐसा ही असाधारण समूह थीं, जिनकी पहचान अछूत होने की ठोस कसौटी के आधार पर की गयी थी। लेकिन संविधान लिखे जाने के दौरान इसका दायरा बढ़ा दिया गया, जब पहले तो एक बेहद लचर कसौटी के आधार पर एक अलग अनुसूची बना कर इसको आदिवासियों तक विस्तार दिया गया और फिर बाकी उन सबको इसमें शामिल कर लिया गया, जिनकी पहचान राज्य द्वारा 'शैक्षिक और सामाजिक रूप से पिछड़ों' के रूप में की जा सकती हो। 1990 में मंडल आरक्षणों को लागू करते हुए इस बाद वाले विस्तार का इस्तेमाल हमारे शासकों ने बेहद सटीक तरीके से किया, जब उन्होंने जातिवाद के घोड़े को बेलगाम छोड़ दिया।

उनके द्वारा अपनायी गयी इन और ऐसी ही दूसरी चालाकी भरी नीतियों ने उस आधुनिक शैतान को पैदा किया है जो दलितों के जातीय उत्पीड़न का सीधा जिम्मेदार है। समाजवाद की लफ्फाजी के साथ शासक वर्ग देश को व्यवस्थित रूप से पूँजीवाद की तरफ ले गया। चाहे वह हमारी पहली पंचवर्षीय योजना के रूप में बड़े पूँजीपतियों द्वारा बनायी गयी बम्बई योजना (बॉम्बे प्लान) को अपना कर यह दिखावा करना हो कि भारत सचमुच में समाजवादी रास्ते पर चल रहा

है, या फिर सोचे समझे तरीके से किये गये आधे-अधूरे भूमि सुधार हों या फिर हरित क्रान्ति की पूँजीवादी रणनीति को सब जगह लागू किया जाना हो, इन सभी ने भारी आबादी वाले शूद्र जाति समूहों में धनी किसानों के एक वर्ग को पैदा किया जिनकी भूमिका केन्द्रीय पूँजीपतियों के देहाती सहयोगी की थी। अब तक जमींदार ऊँची जातियों से आते थे, लेकिन अब उनकी जगह इन धनी किसानों ने ले ली और उनके हाथ में ब्राह्मणवाद की पताका थी। दूसरी तरफ, अन्तरनिर्भरता बनाये रखने वाली जजमानी प्रथाओं के खत्म होने से दलित ग्रामीण सर्वहारा बनकर और अधिक असुरक्षित हो गये। वे अब धनी किसानों से मिलने वाली खेतिहर मजदूरी पर निर्भर हो गये थे। जल्दी ही इससे मजदूरी को लेकर संघर्ष पैदा हुए जिनको कुचलने के लिए सांस्कृतिक रूप से उजड्ड जातिवाद के इन नये पहरेदारों ने भारी आतंक छेड़ दिया। इस कार्रवाई के लिए उन्होंने जाति और वर्ग के एक अजीब से मेल का इस्तेमाल किया। तमिलनाडु में किल्वेनमनी में 1968 में रोंगटे खड़े कर देने वाले उत्पीड़न से शुरू हुआ यह सिलसिला आज नवउदारवाद के दौर में तेज होता गया है। जो शूद्र ज्योतिबा फुले के विचारों के मुताबिक दलितों (अति-शूद्रों) के सम्भावित सहयोगी थे, नये शासकों की चालाकी भरी नीतियों ने उन्हें दलितों का उत्पीड़क बना दिया।

उत्पीड़न को महज आँकड़ों में न देखें

''हरेक घंटे दो दलितों पर हमले होते हैं, हरेक दिन तीन दलित महिलाओं के साथ बलात्कार होता है, दो दलितों की हत्या होती है, दो दलितों के घर जलाये जाते हैं,' यह बात तब से लोगों का तकिया कलाम बन गयी है जब 11 साल पहले हिलेरी माएल ने पहली बार नेशनल ज्योग्राफिक में इसे लिखा था। अब इन आँकड़ों में सुधार किये जाने की जरूरत है, मिसाल के लिए दलित महिलाओं के बलात्कार की दर हिलेरी के 3 से बढ़कर 4।3 हो गयी है, यानी इसमें 43 फीसदी की भारी बढ़ोतरी हुई है। यहाँ तक कि शेयर बाजार सूचकांकों तक में उतार-चढ़ाव आते हैं लेकिन दलितों पर उत्पीड़न में केवल इजाफा ही होता है। लेकिन तब भी ये बात हमें शर्मिंदा करने में नाकाम रहती हैं। हम अपनी पहचान बन चुकी बेशर्मी और बेपरवाही को ओढ़े हुए अपने दिन गुजारते रहते हैं, कभी-कभी हम कठोर कानूनों की माँग कर लेते हैं- यह जानते हुए भी कि इंसाफ देने वाले निजाम ने उत्पीड़न निरोधक अधिनियम को किस तरह नकारा बना दिया है। जबसे ये अधिनियम लागू हुआ, तब से ही जातिवादी संगठन इसे हटाने की मांग करते रहे हैं। मिसाल के लिए महाराष्ट्र में शिव सेना ने 1995 के चुनावों में इसे अपने चुनावी अभियान का मुख्य मुद्दा बनाया था और महाराष्ट्र सरकार ने अधिनियम के तहत दर्ज किये गये 1100 मामले सचमुच वापस भी ले लिये थे।

दलितों के खिलाफ उत्पीड़न के मामलों को इस अधिनियम के तहत दर्ज करने में भारी हिचक देखने को मिलती है। यहाँ तक कि खैरलांजी में, जिसे एक आम इंसान भी जातीय उत्पीड़न ही कहेगा, फास्ट ट्रैक अदालत को ऐसा कोई जातीय कोण नहीं मिला कि इस मामले में उत्पीड़न अधिनियम को लागू किया जा सके। खैरलांजी में एक पूरा गाँव दलित परिवार को सामूहिक रूप से यातना देने, बलात्कार करने और एक महिला, उसकी बेटी और दो बेटों की हत्या में शामिल था, महिलाओं की बिना कपड़ों वाली लाशें मिली थीं जिन पर हमले के निशान थे, लेकिन इन साफ तथ्यों के बावजूद सुनवाई करने वाली अदालत ने नहीं माना कि यह कोई साजिश का मामला था या कि इसमें किसी महिला की गरिमा का हनन हुआ था। यहाँ तक कि उच्च न्यायालय तक ने इस घटिया राय को सुधारने के लायक नहीं समझा। उत्पीड़न के मामलों में इंसाफ का मजाक उड़ाये जाने की मिसालें तो बहुतेरी हैं। इंसाफ दिलाने का पूरा निजाम, पुलिस से लेकर जज तक खुलेआम असंगतियों से भरा हुआ है। किल्वेनमनी के पहले मामले में ही, जहाँ 42 दलित मजदूरों को जिन्दा जला दिया गया था, मद्रास उच्च न्यायालय ने कहा कि धनी जमींदार, जिनके पास कारें तक हैं, ऐसा जुर्म नहीं कर सकते और अदालत ने उन्हें बरी कर दिया। रही पुलिस तो उसके बारे में जितना कम कहा जाय उतना ही अच्छा। ज्यादातर पुलिसकर्मी तो वर्दी वाले अपराधी हैं। वे उत्पीड़न के हरेक मामले में दलितों के खिलाफ काम करते हैं। चाहे वह खामियों से भरी हुई जाँच हो और/या आधे-अधूरे तरीके से की गयी पैरवी हो, सन्देह का दायरा अदालतों के इर्द-गिर्द भी बनता है जिन्होंने मक्कारी से भरे फैसलों का एक सिलसिला ही बना रखा है। हाल में, पटना उच्च न्यायालय ने अपने यहाँ चल रहे दलितों के जनसंहार के मामलों में एक के बाद एक रणवीर सेना के सभी अपराधियों को बरी करके दुनिया को हैरान कर दिया। हैदराबाद उच्च न्यायालय ने भी बदनाम सुंदुर मामले

में यही किया, जिसमें निचली अदालतों ने सभी दोषियों को रिहा कर दिया था।

अपराधियों का हौसला बढ़ाया जाता है

इंसाफ देने वाले निजाम द्वारा कायम की गयी इस परिपाटी ने अपराधियों का हौसला ही बढ़ाया है कि वे दलितों के खिलाफ किसी भी तरह का उत्पीड़न कर सकते हैं। वे जानते हैं कि उनको कभी सजा नहीं मिलेगी। पहले तो वे यह देखते हैं कि जो दलित अपने अस्तित्व के लिए उन्हीं पर निर्भर हैं, वे यूँ भी उनके खिलाफ जाने की हिम्मत नहीं कर पायेंगे। इस तरह उत्पीड़न के अनेक मामले तो कभी सामने तक नहीं आ पाते हैं, जिनमें से ज्यादातर दूर दराज के देहाती इलाकों में होते हैं। और अगर किसी तरह उत्पीड़न का कोई मामला दबाया नहीं जा सका, तो असली अपराधी तो पुलिस की गिरफ्त से बाहर ही रहते हैं और न्यायिक प्रक्रिया के लपेटे में उनके छुटभइये मातहत आते हैं। पुलिस बहुत कारीगरी से काम करती है जिसमें वह जानबूझ कर जाँच में खामियाँ छोड़ देती है, मामले की पैरवी के लिए किसी नाकाबिल वकील को लगाया जाता है और आखिर में एक पक्षपात से भरे फैसले के साथ मामला बड़े बेआबरू तरीके से खत्म होता है। यह पूरी प्रक्रिया अपराधियों को काफी हौसला देती है।

क्या भगाना के उन बलात्कारियों के दुस्साहस का अंदाजा लगाया जा सकता है, जिन्होंने 13 से 18 साल की चार दलित किशोरियों का क्रूरता से पूरी रात सामूहिक बलात्कार किया और फिर पड़ोस के राज्य में ले जाकर उन्हें झाड़ियों में फेंक आये और इसके बाद भी उन्हें उम्मीद थी कि सबकुछ रफा दफा हो जाएगा। जो लड़कियाँ अपने अपमान को चुनौती देते हुए राजधानी में अपने परिजनों के साथ महीने भर से इंसाफ की माँग करते हुए बैठी हैं और कोई उनकी खबर तक नहीं ले रहा है, क्या इसकी कल्पना की जा सकती है कि यह सब उन्हें कितना दर्द पहुँचा रहा होगा। क्या हम देश के तथाकथित प्रगतिशील तबके के छुपे हुए जातिवाद की कल्पना कर सकते हैं, जिसने एक गैर दलित लड़की के बलात्कार और हत्या पर राष्ट्रव्यापी गुस्से की लहर पैदा कर दी थी, उसे निर्भया नाम दिया था, लेकिन वो भगाना की इन लड़कियों की पुकार पर चुप्पी साधे हुए हैं। महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले के खरडा गाँव के 17 साल के दलित स्कूली लड़के नितिन को जब दिनदहाड़े पीट-पीट कर मारा जा रहा था- सिर्फ इसलिए कि उसने एक ऐसी लड़की से बात करने का साहस किया था जो एक प्रभुत्वशाली जाति से आती है- तो क्या उस लड़के और उसके गरीब माँ-बाप की तकलीफों की कल्पना की जा सकती है, जिनका वह इकलौता बेटा था। और क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि इन दो बेगुनाह लड़कियों पर क्या गुजरी होगी, जिनके साथ अपराधियों ने रात भर बलात्कार किया और फिर पेड़ पर लटका कर मरने के लिए छोड़ दिया। और मामले यहीं खत्म नहीं होते। पिछले दो महीनों में इन दोनों राज्यों में उत्पीड़न के ऐसे ही अनगिनत मामले हुए, लेकिन उन्हें मीडिया में जगह नहीं मिली। क्या यह कल्पना की जा सकती है कि अपराधी बिना राजनेताओं की हिमायत के ऐसे घिनौने अपराध कर सकते हैं। इन सभी मामलों में राजनीतिक दिग्गज अपराधियों का बचाव करने के लिए आगे आये- हरियाणा में कांग्रेस के दिग्गजों ने, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी के दिग्गजों ने और महाराष्ट्र में एनसीपी के दिग्गजों ने अपराधियों का बचाव किया।

अमरीका में काले लोगों को पीट-पीट कर मारने की घटनाओं के जवाब में काले नौजवानों ने बन्दूक उठा ली थी और गोरों को सिखा दिया था कि कैसे तमीज से पेश आया जाय। क्या जातिवादी अपराधी यह चाहते हैं कि भारत में इस मिसाल को दोहराया जाय।

(अनुवाद- रेयाज उल हक)

❑

पृष्ठ 11 का शेष

डॉ. अम्बेडकर ने प्रशासन और व्यवस्था के जालिमाना रवैये से भिड़ने के लिए रास्ते की ओर इशारा करते हुए कहा था कि **''नयी व्यवस्था की सफलता के लिए एक ऐसी सिविल सेवा का होना अत्यन्त आवश्यक है जो कि नयी व्यवस्था के साथ तालमेल कर चल सके, ऐसी जरूरत को पेरिस कम्यून के समय 1871 में कार्ल मार्क्स ने पहचान लिया था, जिसे लेनिन ने सोवियत साम्यवादी समाज के संविधान में अपनाया।''**

क्या हम डॉ. अम्बेडकर के इशारे को समझकर कार्रवाई में उतरने के लिए कदम बढ़ाएँगे? और जैसाकि उक्त विज्ञापन में कहा गया था क्या हम वास्तव में सभ्यता की गोद यानी नारित्व को सम्मान और सुरक्षा देने के लिए कदम बढ़ाएँगे? ❑

टोयोटा-किर्लोस्कर में तालाबन्दी और उसके सबक

-अमित बेरा

हमारे देश में मजदूर आन्दोलन के बारे में मीडिया में हमेशा बताया जाता है कि ये आन्दोलन, 'हिंसक', 'उद्योग विरोधी' और 'विकास विरोधी' हैं। हाल ही में बैंगलोर की टोयोटा-किर्लोस्कर मोटर्स लि. के मजदूरों का आन्दोलन इसका ताजा उदाहरण है जिसे बहाना बनाकर प्रबन्धकों ने फैक्ट्री में तालाबन्दी कर दी।

आइये यह जानने की कोशिश करते हैं कि 'उद्योग और विकास' को आन्दोलन से खतरा है या शान्ति से।

आन्दोलन की शुरूआत हुई सन 2001 में, जब टोयोटा-किर्लोस्कर मोटर्स लि. ने अपने उन मजदूरों में से कुछ को निलम्बित और कुछ को बर्खास्त कर दिया, जो अपनी तनख्वाह बढ़ाने की माँग कर रहे थे। इस घटना के बाद मजदूरों ने संगठित होने की जरूरत महसूस की। जुलाई 2001 में वहाँ टोयोटा किर्लोस्कर मोटर्स मजदूर यूनियन की स्थापना हुई। तब से ये यूनियन अपनी विभिन्न तात्कालिक माँगों के लिए लड़ती आ रही है।

इस बार समस्या की शुरूआत प्रबन्धकों द्वारा मजदूरों के माँगपत्र को ठुकराये जाने पर होती है। उनकी मुख्य माँग थी - महँगाई के कारण मासिक तनख्वाह में बढ़ोतरी, हफ्ते में 5 दिन का कार्यदिवस, मकान भत्ता या निवास का इन्तजाम, ठेकाप्रथा में नियुक्ति को खत्म करना इत्यादि।

प्रबन्धन ने तनख्वाह बढ़ाने के मुद्दे के अलावा इनमें से किसी भी अन्य मुद्दे पर बात करने से इनकार कर दिया। शुरू में उन्होंने 2400 रुपये तनख्वाह बढ़ाने के लिए प्रस्ताव रखा और फिर उसे 3050 रुपये तक बढ़ाने के लिए राजी हो गये। मजदूर यूनियन इस पर सहमत नहीं हुई। कम्पनी की तरफ से ये सफाई दी गयी कि 'बिक्री में कमी, रुपये के अवमूल्यन, और ऑटो मोबाइल के सामानों के आयात में खर्चा बढ़ने के कारण' कम्पनी घाटे में चल रही है। यह एक विचित्र बहाना है क्योंकि कम्पनी ने तालाबन्दी का कारण घाटे में चलना नहीं बताया है, बल्कि कारखाने की मशीनरी, मजदूर और प्रबन्धन अधिकारियों के लिए सुरक्षात्मक उपाय को इसका कारण बताया गया है। क्या ये चाल वहाँ के मजदूरों के आन्दोलन की माँग को दिशा भ्रमित करने के लिए नहीं चली गयी है?

लगातार घाटे में चलती हुई एक कम्पनी खुद को दिवालिया घोषित करती है। कारखाना बन्द करने के 14 दिन पहले राज्य के श्रम विभाग और अपने कर्मचारियों को नोटिस देना पड़ता है। किसी भी कारखाने को बन्द करने के लिए यही कानूनी प्रक्रिया है। लेकिन टोयोटा-किर्लोस्कर ने घाटे के दौरान भी काम चालू रखा और तब तक बन्द नहीं किया जब तक मजदूरों के शान्तिपूर्ण धरना और दो बार प्रतीकात्मक हड़ताल के चलते मालिकों को अपनी सुरक्षा और कारखाने की सामूहिक सुरक्षा खतरे में पड़ती नजर नहीं आयी। क्या अपनी उचित माँग के लिए न्यायसंगत आन्दोलन करना कारखाने की सामूहिक सुरक्षा के लिए किसी भी तरह खतरनाक है?

बिना पूर्व सूचना के ये तालाबन्दी करना न सिर्फ मूल कारखाने की जिंदगी और रोजगार को खतरे में डालता है, बल्कि उस कम्पनी को तरह-तरह के सामान पूर्ति करने वाली छोटी-छोटी फैक्टरियों के मजदूरों की जिंदगी और रोजगार भी खतरे में डालता है। टोयोटा-किर्लोस्कर में तालाबन्दी के कारण 4200 मजदूरों के साथ-साथ आस-पास के कारखानों के लगभग 4000 मजदूरों का भविष्य भी खतरे में है। ऐसा खतरा सामने आते ही यूनियन मजबूर होती है कि अपनी पुरानी माँग को भुलाकर जितनी जल्दी हो सके, कारखाना दोबारा चालू कराने की माँग की जाय। इस तरह यूनियन को काबू करने के बाद मजदूरों पर और अधिक शिकंजा कसने के लिए हर एक मजदूर से लिखित आश्वासन लेकर मजदूरों को कड़ाई से नियमों का पालन करने के लिए बाध्य किया जाता है। और हुआ भी यही। कम्पनी मालिक इतने से ही खुश नहीं हुए, इसके साथ-साथ यूनियन से जुड़े 30 मजदूरों को अनुशासन तोड़ने और बुरे बर्ताव का आरोप लगाकर निलम्बित भी किया गया है।

सवाल यह है की असल में मजदूरों की रोजगार सुरक्षा को खतरे में डालने के लिए यूनियन जिम्मेदार है या कम्पनी प्रबन्धक?

तथ्य बताते हैं की प्रबन्धन ही मजदूरों के अधिकारों को कुचलकर और उनकी जायज माँगों को ठुकराकर अशान्ति और असुरक्षा पैदा करते हैं। टोयोटा-किर्लोस्कर की मौजूदा प्रबन्धन पद्धति इसकी मिसाल है। वहाँ काम करने वाले

मजदूरों पर हर कदम पर निगरानी रखी जाती है। ताकि उनके किसी व्यवहार को बहाना बनाकर अनुशासनात्मक कार्रवाई की जाय। आये दिन मजदूरों की तनख्वाह में कटौती, निलम्बन और यहाँ तक की उन्हें बर्खास्त भी किया जाता है। कर्मचारियों के साथ किसी भी तरह की बातचीत में असहमति को प्रबन्धक दुर्व्यवहार या खतरनाक बताते हैं। जैसे इस बार आन्दोलनकारी मजदूरों को दुर्व्यवहार करने और कम्पनी के लिए खतरा उत्पन्न करने वाले बताकर निलम्बित किया गया है।

अगर कम्पनी की उत्पादकता बढ़ाने और खर्च में कटौती करने की नीति को देखा जाय तो यहाँ की उत्पादन प्रणाली एक और सच्चाई का खुलासा करती है जिसे वहाँ के एक मजदूर के बयान से समझा जा सकता है।

'... मान लीजिये पहले 10 मजदूरों की एक टीम को कोई भी काम सौंपा जाता है। एक-दो महीने के अन्दर उस टीम से एक मजदूर को निकाल दिया जाता है लेकिन वह काम बाकी बचे 9 मजदूरों को ही करना पड़ता है। प्रबन्धक हम पर दबाव डालते हैं कि हम सही समय पर काम पूरा करें, जिसे हम बहुत मुश्किल से पूरा कर पाते हैं। अगली बार कम्पनी टीम के और एक मजदूर को निकाल देती है, फिर भी बाकी बचे 8 लोगों पर दबाव डालती है कि ज्यादा से ज्यादा काम करें... जबकि उसी काम को, उसी समय सीमा के भीतर 10 मजदूरों की टीम की जगह 8 मजदूरों को पूरा करना पड़ता है।'

क्या यह कार्य प्रणाली आज कल हर किसी की जबान पर चढ़े हुए 'न्यूनतम सरकार, अधिकतम प्रशासन' के नारे से मेल नहीं खाती है? क्या इस तरह कम्पनी ज्यादा से ज्यादा काम का बोझ डालकर वहाँ के मजदूरों का खून-पसीना ज्यादा से ज्यादा नहीं निचोड़ रही है? क्या इसके चलते मजदूरों को शारीरिक और मानसिक रोग का शिकार होना स्वाभाविक नहीं है? क्या मजदूरों का संगठित होकर इस सबका विरोध करना अपराध है? इस पुरे प्रकरण में चुप्पी साधकर श्रम विभाग के अधिकारी किसका साथ दे रहे हैं?

आज श्रम पर पूँजी का चौतरफा हमला हो रहा है। आधुनिक उद्योगों में गुलामों से भी बदतर स्थिति में मजदूरों से काम लिया जा रहा है, जहाँ उनके लिये कोई सम्मानजनक सेवाशर्त नहीं लागू होतीं और उनके लोकतान्त्रिक अधिकारों का हनन होता है। अगर मजदूर चुपचाप गुलामों की तरह खटते रहे तो यह भारत के अर्थशास्त्रियों, नेताओं और पूँजीपतियों की नजर में 'उद्योग और विकास का अनुकूल वातावरण' है। इसी तरीके से शान्ति स्थापित करके देश के विकास का सपना दिखाया जा रहा है। टोयोटा-किर्लोस्कर में तालाबन्दी खत्म करने के लिए प्रबन्धकों ने इसी मरघट की शान्ति कायम करने की शर्त रखी। उनका कहना है की यदि मजदूरों ने आन्दोलन किया, तो वे अपना प्लान्ट उखाड़कर तमिलनाडु में ले जायेंगे।

लोकतंत्र की आड़ में वैश्विक पूँजी की यह गुलामी मजदूरों के लिए ही नहीं बल्कि हर संवेदनशील नागरिक के लिए गम्भीर चिन्ता और चिन्तन का विषय है। रोमन साम्राज्य की तरह यह गुलामगीरी कब तक कायम रहेगी? क्या रोम में गुलामगीरी कायम रह पायी? ❑

ओएनजीसी ने रिलायन्स पर 30,000 करोड़ रुपये के नुकसान का अभियोग लगाया

सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी ओएनजीसी ने 29 मई को दिल्ली उच्च न्यायालय के आगे यह दावा पेश किया की रिलायन्स इंडस्ट्रीज लिमिटेड ने कृष्णा गोदावरी बेसिन में उसके तेल कुओं से अवैध दोहन करके 30,000 करोड़ रुपये का नुकसान पहुँचाया है। ओएनजीसी का कहना है की रिलायन्स ने 2009 के बाद उसके आसपास के कुओं से चोरी छुपे 18 अरब मीटर गैस निकाल ली। उसका यह भी कहना है कि इस बारे में जब उसने अपने मंत्रालय को सूचित किया तो उसने उस पर कार्रवाई नहीं की। ओएनजीसी ने आरोप लगाया की यह परिस्थिति इसलिए पैदा हुई कि हाइड्रो कार्बन महानिदेशालय और केन्द्र सरकार ने इस मामले में सतर्कता नहीं बरती और बचाव का कोई उपाय नहीं किया जिसके चलते उसे हजारों करोड़ का नुकसान हुआ। रिलायन्स ने कहा कि वह अपने कुओं से गैस निकाल रहा है और इस बात की जाँच के लिए विशेषतः कमेटी बैठा ली जाये कि दोनों कम्पनियों के कुएँ आपस में जुड़े हैं या नहीं।

केन्द्र सरकार ने कहा कि रिलायन्स और ओएनजीसी के अधिकारियों के साथ हाइड्रोकार्बन महानिदेशालय की बैठक में एक विशेषज्ञ कमेटी गठित करने का निर्णय लिया गया है। विशेषज्ञ कमेटी हाइड्रो कार्बन महानिदेशालय के अधीन काम करेगी।

इसी बीच सरकार सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों से सरकारी शेयर बेचने (विनिवेश) की तैयारी कर रही है और ओएनजीसी इस सूची में शामिल है। रिलायन्स का प्रस्ताव था कि दोनों कम्पनियों के कुएँ सटे हैं तो मिल-जुल कर गैस का दोहन करें। आगे शायद यही हो।

अच्छे दिनों की शुरूआत : बैंकों के निजीकरण की तैयारी

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की एक कमिटी ने अपनी एक ताजा रिपोर्ट में कहा है कि सराकर को सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में अपनी हिस्सेदारी 50 प्रतिशत से भी कम कर देनी चाहिए। कर्ज देने वाली संस्थाएँ जिस तरह से शासित की जा रही हैं, उसकी आलोचना करते हुए कमिटी ने यह निष्कर्ष दिया है। कमिटी के अध्यक्ष एक्सेस बैंक के पूर्व चेयरमेन पी जे नायक का कहना है कि सार्वजनिक क्षेत्र के 26 बैंकों को कई तरह के दबाव झेलने पड़ते हैं, जैसे- रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया और वित्तमंत्रालय का दोहरा दबाव। इसके साथ ही उन्हें केन्द्रीयता सतर्कता आयोग और कैग की बाह्य सतर्कता को भी झेलना पड़ता है।

कमिटी का कहना है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में दिशा निर्देशन, रणनीतिक मुद्दों तथा जोखिम प्रबंधन पर ध्यान देने का अभाव है। इसे तभी सुधारा जा सकता है जब सरकार खुद को शासकीय गतिविधियों से दूर कर ले और बैंकों में अपनी बहुलांश हिस्सेदारी को त्याग दे। इसके लिए कमिटी ने पूरा खाका तैयार किया है, जिसमें सर्वप्रथम सरकार को अपनी हिस्सेदारी बैंक विनिवेश कम्पनी (बीआईसी) को हस्तांतरित करनी होगी तथा इसके जरिये अपनी प्रशासकीय जवाबदेही को बीआईसी को सौंपना होगा। और बैंकों को कम्पनी की तरह संचालित किया जायेगा।

याद करें, 2008 में पूरी दुनिया वित्तीय महा संकट की चपेट में थी। अमरीकी बैंकिंग और वित्तीय व्यवस्था ताश के पत्तों की तरह ढह गयी थी। बैंकों और वित्तीय संस्थाओं का दिवालिया होना रोजमर्रे की बात था। सरकारी सहायता (बेलआउट) का कृत्रिम ऑक्सीजन भी वित्तीय व्यवस्था की साँसों को चलाते रहने में अपनी असमर्थता जाहिर कर रहा था। लेकिन ठीक इसी वक्त यूपीए सरकार के दूसरे कार्यकाल में वित्तमंत्री रहे प्रणव मुखर्जी ने 2009-10 के अपने बजट भाषण में घोषणा की थी, कि इस तबाही से ''भारतीय बैंकिंग और वित्तीय क्षेत्र सापेक्षिक रूप से अछूते रहे'' तथा इंदिरा गाँधी के शासन काल में किया गया बैंकों का राष्ट्रीयकरण भारतीय अर्थव्यवस्था को उस विकट संकट से उबार ले गया। हालाँकि भारतीय अर्थव्यवस्था संकट से उछूती नहीं रही, जैसा कि प्रणव मुखर्जी का दावा था। उसी दौरान आईसीआईसीआई बैंक को भारत में 3 करोड़ डॉलर का नुकसान हुआ। अमरीकी वित्तीय संस्थान लेहमन ब्रदर्स में निवेश के कारण स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया और पंजाब नेशनल बैंक का 50-50 लाख डॉलर डूब गया। लेहमन ब्रदर्स की भारतीय शाखा में काम कर रहे 2500 कर्मचारियों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। फिर भी अमरीकी तबाही की तुलना में यह नुकसान कुछ नहीं था, और यह कहना गलत नहीं कि बैंकिंग और वित्तीय व्यवस्था इस संकट से बहुत कम प्रभावित हुई थी।

1990 में नयी आर्थिक नीतियों के तहत उदारीकरण-निजीकरण की प्रबल समर्थक कांग्रेस सरकार अचानक बैंकिग और वित्तीय क्षेत्र के राष्ट्रीयकरण की अच्छाइयों और इंदिरा गाँधी की इस दूरदर्शिता का गुणगान करने लगी। लेकिन जीवन रक्षण प्रणाली पर टिकी अर्थव्यवस्था में जैसे ही जीवन के लक्षण नजर आये एक बार फिर पूँजीपतियों के गिरोह और उनकी हितैषी सरकारों ने बैंकिंग और वित्तीय क्षेत्र को नियंत्रण मुक्त करने की तैयार शुरू कर दी है। वैश्विक वित्तीय संकट के समय राष्ट्रीयकरण की जिन नीतियों को उद्धारक के रूप में सराहा गया था, अब उसे विकास के मार्ग में बाधक समझा जाने लगा। पीजे नायक कमिटी की सिफारिशें इसी का एक ताजा उदाहरण है।

मोदी सरकार में वित्तमंत्रालय सम्भाल रहे अरुण जेटली ने अपने तात्कालिक एजेण्डे में वित्तीय क्षेत्र में 49 प्रतिशित निजी पूँजी निवेश को प्राथमिकता में रखा है। दरअसल नयी सरकार का पिछली सरकार की नीतिगत योजनाओं से कोई मतभेद नहीं है। बैंकों के निजीकरण की वकालत 2007 में पेरसी मिस्त्री कमेटी की रिपोर्ट में भी की गयी थी, लेकिन 2008 के संकट के चलते उसे कुछ समय के लिए टाल दिया गया था। अब एक बार फिर विनिवेश का जिन्न बोतल से बाहर आने के लिए कुलबुला रहा है।

आज का दौर वित्तीय पूँजी का दौर है। वित्तीय क्षेत्र पर अधिकार होने का अर्थ है, अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों की प्राथमिकता और पहलकदमी को अपनी मुठ्ठी में कर लेना। जिस दौर में भारतीय शासकों ने स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर विकास का सपना देखना बंद नहीं किया था, तब बैंकों का राष्ट्रीयकरण करके उनकी दिशा कृषि, उद्योग और पंचवर्षीय

योजनाओं को आगे बढ़ाने में मोड़ी थी। कृषि और लघु उद्योग को सस्ते दाम पर कर्ज देना, सहकारिता और कुटिर उद्योग को बढ़ावा देना, तथा सरकारी योजनाओं में सहयोगी भूमिका निभाना बैंकों की प्राथमिकता होती थी। लेकिन आज बाजार अर्थव्यवस्था और निजी मुनाफे को अंगीकार करने के बाद उनके सुर बदल गये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की नीलामी और बैंकों से सरकारी नियंत्रण हटाने के पीछे जनविरोधी नवउदारवादी नीतियाँ हैं, जिनका मूलमंत्र है- सब कुछ मुनाफे के लिए सब कुछ पूँजीपतियों के लिए।

सार्वजनिक सम्पत्ति को कौड़ियों के मोल देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले करने में भाजपा सरकार कांग्रेस से किसी मामले में पीछे नहीं रहेगी।

बैंकिंग क्षेत्र के ट्रेड यूनियनों ने 23 मई को निजीकरण के खिलाफ हड़ताल भी की थी। लेकिन ट्रेड यूनियनों के स्तर पर यह एक हारी हुई लड़ाई है। आनुष्ठानिक और प्रतीकात्मक विरोधों से इन नीतिगत बदलावों को रोक पाना सम्भव नहीं है।

❑

विकास के गुजरात मॉडल का सच

लोकसभा चुनाव के दौरान 'गुजरात का विकास मॉडल' मीडिया और चुनावी सभाओं में छाया रहा। तथ्यों की रोशनी में इसकी सच्चाई को जानने का प्रयास करें तो गुजरात की एक अलग ही तस्वीकर सामने आती है।

गुजरात सरकार ने देश के अग्रणी पूँजीपति रतन टाटा को नैनो कार का कारखाना लगाने के लिए 9570 करोड़ रुपये का कर्ज 0.1 प्रतिशत की ब्याज दर पर दिया। यानी टाटा को एक साल में दस हजार रुपये के कर्ज पर मात्र 1 रुपये का ब्याज देना है। इसी के साथ-साथ उन्हें 20 साल तक कर्ज न लौटाने की छूट है। यानी 20 साल बाद उन्हें 10 हजार रुपये के कर्ज के ब्याज के रूप में मात्र 20 रुपये ही देने पड़ेंगे। इसके अलावा कारखाने को सिंगुर से साणंद (गुजरात) लाने के खर्च के रूप में उन्हें 700 करोड़ रुपये दिये गये। 10 हजार रुपये प्रति वर्ग मीटर भाव वाली जमीन 900 रुपये प्रति वर्ग मीटर के भाग से दी गयी। कुल मिलकर मोदी सरकार ने टाटा को लगभग 30 हजार करोड़ रुपये दान में दिये। टाटा जिस नैनो कार को 1 लाख में बेच रहे हैं उसमें 60 हजार रुपये गुजरात सरकार की सबसीडी है।

निश्चय ही यह रकम नरेन्द्र मोदी कि नहीं, जनता की थी। जनता ने उन पर भरोसा काके उन्हें इसका रखवाला बनाया था। गुजरात में हजारों किसान कर्ज के बोझ से दबकर आत्महत्या कर चुके हैं और लाखों तबाही के कगार पर बैठे हैं। इस रकम से 30 लाख किसानों को एक-एक लाख रुपये की राहत दी जा सकता थी। गुजरात के मजदूरों को देश में सबसे कम मजदूरी मिलती है। इस रकम से उनकी हालत सुधारी जा सकती थी। गुजरात में 70 प्रतिशत दलित लड़कियाँ हाई स्कूल तक भी नहीं पढ़ पाती। इस रकम से उन सभी को अच्छे स्कूलों में पढ़ाया जा सकता था। गुजरात के आधे से ज्यादा बच्चे कुपोषित हैं। दूसरे कई राज्यों से कहीं ज्यादा, यहाँ हजार में से 148 माताएँ प्रसव के दौरान मर जाती हैं। जिसकी मुख्य वजह खून की कमी होती है। इसी तरह कुपोषण और मामूली इलाज के अभाव में 1000 में से 72 बच्चे बचपन में ही मौत के शिकार हो जाते हैं, जबकि एक गरीब राज्य तमिलनाडु में यह संख्या 22 है। तीस हजार करोड़ रुपये से इनमें से करोड़ों की जिन्दगी बचाई जा सकती है।

गुजरात की मोदी सरकार द्वारा जनता की दौलत को पूँजीपतियों की तिजोरी में भर देने के कुछ और उदाहरण भी काबिलेगौर हैं।

मोदी सरकार ने अडानी को मुन्दरा में समुद्र के साथ लगी 7350 हेक्टेयर उपजाऊ जमीन 30 साल के लिए 1 रुपये से लेकर 32 रुपये प्रति वर्ग मीटर की दर से पट्टे पर दे दी। जबकि इसका बाजार भाव 1500 रुपये प्रति वर्ग मीटर था। कैग की रिपोर्ट के अनुसार अडानी ने सरकारी कम्पनी 'गुजरात विकास निगम' के साथ धोखाधड़ी की जिसके जुर्माने के रूप में उसे 240.08 करोड़ रुपये भरने थे। इसमें से उसके 160 करोड़ रुपये मोदी सरकार ने माफ कर दिये। एस्सार स्टील कम्पनी ने 7,24,687 वर्ग मीटर जमीन पर अवैध कब्जा कर लिया। मोदी सरकार ने 238 करोड़ रुपये से ज्यादा का घाटा उठाकर जमीन उसी कम्पनी को दे दी। इसी तरह लार्सन एंड टुर्बो कम्पनी को 128।71 करोड़ का घाटा उठाकर परमाणु बिजली घर बनाने के लिए जमीन दे दी।

कुछ लोग तर्क देते हैं कि गुजरात में नये-नये उद्योग लगने से वहाँ बहुत विकास हुआ है, भारी पैमाने पर रोजगार पैदा हुआ है और गुजरात आर्थिक रूप से एक मजबूत अर्थव्यवस्था वाले प्रदेश के रूप में आगे आया है। लेकिन सच्चाई इसके एकदम उलट है। पिछले दस सालों में गुजरात में रोजगार की वृद्धि पूर्णतया ठहरावग्रस्त है। शहरों में सेवा क्षेत्र में मामूली रोजगार पैदा हुआ

है। कुछ लोगों को उद्योगों में भी रोजगार मिला है, लेकिन पिछले दस सालों में देहात में भारी संख्या में लोग अपने पेशों से उजड़े हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण 2009-10 के अनुसार गुजरात में किसानों ने भारी पैमाने पर अपनी जमीन गँवाई है। पिछले दशक में भूमिहीनता में बेहिसाब बढ़ोतरी हुई है जिसके चलते खेती पर निर्भर अन्य पेशों में भी गिरावट आयी है। इसका मुख्य कारण कॉर्पोरेट खेती तथा ठेका खेती के मॉडल को लागू करना है। हाल ही में वास्तविक मजदूरी के बारे में छपी रिपोर्ट दिखाती है कि गुजरात में वास्तविक मजदूरी देश में सबसे कम है। रिपोर्ट दिखाती है कि राष्ट्रीय स्तर पर औसत नियमित मजदूरी 450 रुपये और दिहाड़ी मजदूरी 170 रुपये प्रतिदिन है जबकि गुजरात में यह औसत 320 रुपये और 145 रुपये प्रतिदिन है। नियमित मजदूरी में गुजरात की स्थिति देश के सभी राज्यों से खराब है और दिहाड़ी मजदूरी में वह बीसवें स्थान पर है। ग्रामीण क्षेत्र में मजदूरी का राष्ट्रीय औसत 139 रुपये प्रतिदिन है जबकि गुजरात में यह 113 रुपये प्रतिदिन ही है। इसमें भी गुजरात बीसवें स्थान पर है। स्पष्ट है कि गुजरात की मोदी सरकार ने भारी पैमाने पर छोटे किसानों को उजाड़कर उन्हें पूँजीपतियों के लिए बहुत ही कम मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों की फौज खड़ी की है।

गुजरात में मोदी सरकार के गरीबी हटाने के दावे भी आंकड़ों की हेरा-फेरी के सिवा और कुछ नहीं हैं। जनवरी में गुजरात सरकार ने ग्रामीण इलाके के लिए गरीबी रेखा 340 रुपये प्रतिमाह प्रति व्यक्ति और शहरी इलाके के लिए 501 रुपये प्रतिमाह प्रति व्यक्ति तय की थी। इसके हिसाब से ग्रामीण इलाके में 11 रुपये प्रतिदिन और शहरी इलाके में 17 रुपये प्रतिदिन कमाने वाला व्यक्ति सरकार की निगाह में गरीब नहीं है। इसके आधार पर उन्होनें दावा किया था कि गुजरात की मात्र 1 प्रतिशत आबादी ही गरीबी रेखा से नीचे है। अगर देश में गरीबी की मूल परिभाषा 2200 कैलोरी प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति आहार तक पहुँच के आधार पर गणना की जाये तो 2009-10 के उपभोग खर्च के आधार पर गुजरात की गरीबी रेखा ग्रामीण क्षेत्र में 1,290 रुपये और शहरी क्षेत्र में 2,080 रुपये बैठती है। इस आधार पर गुजरात की 76 प्रतिशत ग्रामीण आबादी और 66 प्रतिशत शहरी आबादी गरीबी रेखा से नीचे है। इस मामले में गुजरात की हालत छत्तीसगढ़ और ओड़िसा से भी बदतर है।

❑

विश्व हिन्दू आर्थिक फोरम ने पेश की नवउदारवादी सुधारों की कार्यसूची

अब पूँजीपति भी जाति-धर्म के आधार पर अपना संगठन बनाने लगे हैं। विश्व हिन्दू आर्थिक फोरम ने केन्द्र की नई सरकार के सामने आर्थिक सुधारों की अपनी कार्यसूची पेश की। इसमें रेलवे को निजी क्षेत्र के लिए खोलने, सार्वजनिक उपक्रमों (पीएसयू) का विनिवेश करने तथा मनरेगा जैसे सरकारी कार्यक्रमों को बंद करने की सिफारिश की गयी है।

आईआईएम बैंगलोर के प्रोफेसर आर वैद्यनाथन, अर्थशास्त्री विवेक देबरॉय और अर्थशास्त्री गौतम सेन ने 4 जून को नयी दिल्ली मंस आयोजित एक कार्यक्रम में यह कार्यसूची प्रस्तुत की। अपने सुधर एजेंडे के बारे में देबरॉय ने कहा कि यह दस्तावेज सिद्धान्तों के बारे में है। हिन्दू आर्थिक विचारों के निश्चित सिद्धान्त है जिसकी झलक एजेंडा में मिलती है।

रेलवे को निजी क्षेत्र के लिए खोलने की वकालत करते हुए हिन्दू फोरम ने कहा है की प्राइवेट कम्पनियों को एक निश्चित फीस के भुगतान पर रेल ट्रैक का इस्तेमाल करने और ट्रेन चलाने की अनुमति देनी चाहिए। केन्द्र सरकार को फिजूलखर्ची पर रोक लगानी चाहिए और साथ ही मनरेगा जैसे कार्यक्रमों को सीमित कर समयबद्ध ढंग से इन्हें खत्म करना चाहिए। सार्वजानिक उपक्रमों की बिक्री में विदेशी भागीदारी के लिए नियमों को उदार बनाया जाना चाहिए। जाहिर है की यह फोरम गरीबों के लिए नाममात्र की राहत को फिजूलखर्ची बताते हुए उसे ख़त्म करने की माँग करता है, जबकि विदेशी पूँजी के प्रति उदारता बरतने की सिफारिश करता है।

देबरॉय के मुताबिक, सरकार को सिर्फ उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रहना चाहिए, जहाँ निजी क्षेत्र कारगर नहीं है। सरकार को मुख्य रूप से सुशासन पर जोर देना चाहिए। इन धार्मिक अर्थशास्त्रियों की भावनाएँ चाहे जितनी ही पवित्र क्यों न हों इनके विचार कौटिल्य से तो बिलकुल ही प्रभावित नहीं लगते। इनकी भाषा हू बहू नव उदारवाद प्रवर्तक मार्ग्रेट थैचर और रोनाल्ड रीगन तथा उनके जनविरोधी विचारों को सिद्धान्तों का जामा पहनाने वाले पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों से पूरी तरह मेल खाते हैं।

❑

सरकार के चहेते चीनी मिल मालिक

चीनी मिल मालिकों द्वारा गन्ना किसानों के बकाया का भुगतान न करने पर उत्तर प्रदेश उच्च न्यायालय ने चीनी मिल मालिकों को कड़ी फटकार लगायी और जुलाई के अंत तक किसानों की बकाया राशि के पूरे भुगतान का आदेश दिया। इस फैसले से मिल मालिकों के कानों पर तो जूँ तक नहीं रेंगी, लेकिन उन्हें बचाने के लिए केन्द्र सरकार ने तुरन्त छः केन्द्रीय मंत्रियों की एक कमेटी का गठन कर दिया जो तत्काल इस मामले में सीधे प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी को सुझाव देगी। यह चीनी मिल मालिकों की सरकार पर मजबूत पकड़ और साथ ही पूरे देश के गन्ना किसानों की कमजोर स्थिति को दिखाता है।

देश के गन्ना पैदा करने वाले 10 राज्यों के किसानों और भारतीय चीनी मिल संघ (इस्मा) के बीच में गन्ने के मूल्य को लेकर कई सालों से संघर्ष चल रहा है। मिल मालिक चाहते हैं कि चीनी मिलों को सरकार के नियन्त्रण से पूरी तरह मुक्त किया जाय। किसान चाहते हैं कि उन्हें मेहनत और लागत के अनुरूप फसल का पूरा दाम मिले। इस लड़ाई में लगातार चीनी मिल मालिक हर पार्टी की सरकार से अपने हितों के अनुकूल नियम-कानून बनवाते जा रहे है और केन्द्र व राज्यों की सरकारों से हजारों करोड़ रुपये ऐंठ चुके हैं। इसके बावजूद भी उन्होंने किसानों के बकाया का भुगतान नहीं किया है। गन्ना उत्पादन करने वाले 10 राज्यों के 5 करोड़ से ज्यादा किसान भुखमरी की कगार पर खड़े हैं। आर्थिक तंगी के चलते कितने ही किसान आत्महत्या कर चुके हैं। बेटियों की शादियाँ नहीं हो पा रही हैं। बच्चे स्कूल छोड़ चुके हैं। कस्बों के दुकानदार रोज-रोज अपने उधार के लिए तकादे कर रहे हैं।

इस साल लोकसभा चुनाव के कारण किसानों को उम्मीद थी कि सरकार मिल मालिकों पर दबाव बनाकर उनके बकाया का भुगतान करा देगी और इस साल का कुछ बेहतर भाव मिल जायेगा। वे 350 रुपये प्रति क्विंटल के भाव के लिए आन्दोलन करने की तैयारी कर रहे थे। उन्हें उम्मीद थी कि राजनीतिक पार्टियाँ उनका सहयोग करेंगी। लेकिन चुनावों में किसी भी पार्टी ने किसानों के गन्ने का बकाया का मुद्दा, कर्ज के चलते किसानों आत्महत्या का मुद्दा, महँगी बिजली का मुद्दा और बीज, खाद इत्यादि का मुद्दा कहीं भी नहीं बनाया। इसके विपरीत उन्होंने साम्प्रदायिकता का मुद्दा उछालकर उत्तर प्रदेश की पूरी गन्ना बेल्ट में साम्प्रदायिक दंगे कराने की साजिश की और वे सफल भी हुए। इसके चलते किसानों में फूट पड़ गयी और गन्ने का मुद्दा बहुत पीछे छूट गया।

सरकार किसी भी पार्टी की हो आज उसका काम सिर्फ सरमायेदारों को फायदा पहुँचाना ही रह गया है। चुनाव से पहले दिसम्बर 2013 में कॉग्रेस सरकार ने चीनी मिल मालिकों को 999 करोड़ रुपये का राहत पैकेज दिया था, लेवी-कोटा खत्म करके करोड़ों रुपये की अप्रत्यक्ष राहत और 7500 करोड़ रुपये का ब्याज मुक्त कर्ज दिया था। उत्तर प्रदेश सरकार ने भी मिल मालिकों को 879 करोड़ रुपये राहत के नाम पर दिये थे। मिल मालिकों को यह 9,380 करोड़ से ज्यादा की राहत इसलिए दी गयी थी कि वे उत्तर प्रदेश गन्ना किसानों के 2,300 करोड़ रुपये और पूरे देश के गन्ना किसानों के 5,800 करोड़ रुपये के बकाया का भुगतान करें। लेकिन चीनी मिल मालिकों ने इतनी राहत और पैकेज लेने के बाद भी गन्ना किसानों का बकाया नहीं लौटाया।

चुनाव के बाद भाजपा के नेतृत्व में बनी नयी सरकार भी पुरानी सरकार के नक्शेकदम पर चलते हुए गन्ना किसानों की समस्या हल करने के नाम पर चीनी मिल मालिकों को और बड़े राहत पैकेज तथा कुछ अन्य छूट देना चाहती है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने केन्द्रीय खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति मंत्री रामविलास पासवान और छः अन्य मंत्रियों को आदेश दिया है कि गन्ना किसानों के भुगतान की समस्या का हल करें।

प्रधानमंत्री के आदेशानुसार ही रामविलास पासवान ने छः मंत्रियों- सड़क परिवहन मंत्री नितिन गडकरी, कृषि मंत्री राधा मोहन सिंह, लघु और मध्यम उद्योग मंत्री कलराज मिश्र, महिला और बाल विकास मंत्री मेनका गाँधी, कृषि राज्य मंत्री संजीव बालियान के साथ बैठक की। उन्होंने पत्रकारों को बताया कि गन्ना भुगतान की समस्या के हल के लिए हमने सरकार (नरेन्द्र मोदी) को कुछ सलाह भेजी हैं जिसमें-- 1. पिछले 5 साल के दौरान चीनी मिल मालिकों ने जो आबकारी कर (टैक्स) सरकार को दिया है, उसी के बराबर कर्ज चीनी मिल मालिकों को दिया जाय। 2. गन्ने से जो एथनोल बनाया जाता है उसकी मात्रा पेट्रोल में 2 प्रतिशत से बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दी जाय। 3. चीनी मिल मालिकों के हितों को ध्यान में रखतें हुए चीनी आयात कर 15 फीसदी से बढ़ाकर 40 फीसदी कर दिया जाय। इसके अलावा पिछली सरकार की तरह

ही नयी सरकार भी चीनी मिल मालिकों को गन्ना भुगतान के नाम पर 4,400 करोड़ रुपये का ब्याज मुक्त कर्ज देगी।

स्पष्ट ही है कि इन समाधानों से गन्ना किसानों का लाभ होगा या मिल मालिकों का।

पिछले 7 महीने में ही सरकार मिल मालिकों को 1800 करोड़ रुपये का राहत पैकेज व लगभग 11500 करोड़ रुपये ब्याज मुक्त कर्ज के रूप में दे चुकी है। यह जनता का ही पैसा था जो सरकार के पास जमा था। जनता का पैसा जनता का उधार चुकाने के लिए ही दे देना हुआ। जब किसान कर्ज के जाल में फंस जाते हैं तो क्या सरकार सूदखोरों और मिल मालिकों का पैसा किसानों को अपना कर्ज उतारने के लिए देती है? कर्ज न भरने पर सरकार किसानों के घर-जमीन नीलाम करा देती है। मिल मालिकों के पास अथाह सम्पत्ति है। सरकार उनकी सम्पत्ति को बेचकर किसानों के बकाया का भुगतान क्यों नहीं कराती। आज तक किसी भी मिल मालिक के बारे में यह खबर सुनने को नहीं मिली कि, फलां मिल मालिक ने कर्ज के बोझ से दबकर आत्महत्या कर ली या नुकसान के चलते मिल मालिक के घर चूल्हा नहीं जला। माल का भुगतान न मिलने के कारण मिल मालिक की बेटी की शादी नहीं हो पायी या फीस न होने के चलते उसके बेटे की पढ़ाई छूट गयी। सच्चाई यह है कि मिल मालिकों को कोई घाटा नहीं हुआ है। अगर उन्हें घाटा होता तो वे हर साल नयी-नयी मिलें क्यों खड़ी करते। मिल मालिक और सरकार दोनों अच्छी तरह जानते हैं कि वे घाटे का रोना रोकर सरकार के पास जमा जनता के खून-पसीने की कमाई के अरबों-खरबों रुपयों को हड़पना चाह रहे हैं। सरकार किसी भी पार्टी की हो उनकी हैसियत मिल मालिकों के कारिन्दों जैसी है। ये मिल मालिकों का हुक्म बजने के लिए हरदम तैयार खड़ी रहती हैं।

बकाया भुगतान के लिए बनाये गये मंत्री मण्डल समूह की दूसरी सिफारिश है कि चीनी पर आयात शुल्क 15 प्रतिशत से बढ़ाकर 40 प्रतिशत किया जाय। ताकि विदेशों से सस्ती चीनी न आ सके और मिल मालिक महँगे दामों पर अपनी चीनी बेच सकें। यह मंत्रीगण अभी तीन महीने पहले, चुनाव के दौरान महँगाई के खिलाफ कांग्रेस की ऐसी-तैसी कर रहे थे तथा अपनी सरकार आने पर महँगाई भगाने के बड़े-बड़े दावे कर रहे थे। लेकिन मिल मालिकों के फायदे की बात आते ही ये सरे दावे भूल गये। स्मरणीय है कि पूँजीपतियों के दबाव में सरकार ने 1990 के दशक में डंकल प्रस्ताव को स्वीकार करके खेती से जुड़ी 1400 चीजों से आयात प्रतिबन्ध हटाकर आयात शुल्क 400 प्रतिशत से घटाकर नाममात्र का कर दिया था। पूरे देश के किसानों ने इसका पुरजोर विरोध किया था और मुम्बई बन्दरगाह पर धरना भी दिया था। तब मिल मालिक सरकार के इस कदम को सही ठहरा रहे थे। आज जब इससे उन्हें अपनी मनमानी पर थोड़ा सा अंकुश लगता दिख रहा है तो वे अपने मुनाफे में कमी का रोना रो रहे हैं। डंकल प्रस्ताव या नवउदारवादी नीतियों से पिछले 20 सालों में भरी पैमाने पर जनता की जो तबाही हुई है उन्हें इससे कोई लेना-देना नहीं।

मंत्री मण्डल समूह ने यह सिफारिश भी की है कि पिछले पाँच सालों में मिल मालिकों द्वारा चुकाये गये आबकारी कर के बराबर बिना ब्याज का कर्ज मिल मालिकों को दिया जाये। इसका अर्थ है कि सरकार परोक्ष रूप से कह रही है कि मिल मालिकों पर कर लगाना गलत है और सरकार अपनी इस गलती का खामियाजा उन्हें बिना ब्याज का कर्ज देकर भुगते। 1990 के बाद की कांग्रेस और भाजपा की सरकारें मिल मालिकों पर लगाये गये अधिकतर करों को माफ कर चुकी हैं। भाजपा सरकार उन पर बचे नाममात्र के करों को भी खत्म कर देगी।

पूँजीपति जनता का शोषण करके जो अकूत मुनाफा बटोरते हैं और देश के साँझा संसाधनों का अपने निजी मुनाफे के लिए दोहन करते हैं। इसी शोषण और दोहन की नाममात्र की क्षतिपूर्ति करने और पूँजीपतियों की मुनाफे की हवस को नियंत्रित करने के लिए पूँजीवादी सरकारें उन पर कुछ कर कर लगाती हैं ताकि इस कर से प्राप्त धनराशि को जनता के हित में खर्च करके उसे नाममात्र की कुछ राहत दे सके। पूँजीपतियों से कर न लेने का एक ही अर्थ मुनाफे के भूखे भेड़ियों के आगे असहाय जनता और देश के साझा संसाधनों को फेंक देना है।

लेकिन दुःख की बात यह है कि इतनी दुर्दशा के बावजूद आज कहीं भी किसानों का कोई आन्दोलन या असरदार संघर्ष नहीं चल रहा है। अपने हकों के लिए, अपनी फसलों के वाजिब दामों के लिए संघर्ष न करना, किसानों में भारी निराशा को, उनकी पस्त हिम्मती को दिखाता है जिसकी सबसे बड़ी वजह आज किसानों के एक मजबूत संगठन का न केवल अभाव है बल्कि उनके बीच धर्म, जाति, क्षेत्र के नाम पर पैदा की गयी फूटपरस्ती है।

आज वक्त की यही माँग है कि अपने बच के धर्म, जाति, क्षेत्र आदि के आपसी भेदों को खत्म किया जाय। और एक मुकम्मल लड़ाई के लिए कमर कस ली जाय। ❑

महान लोकतंत्र के शिकार

लोकसभा चुनाव परिणामों के विजयोल्लास के बीच, 16 मई को अक्षरधाम हमले के छः आरोपियों को सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बरी किये जाने की खबर आयी। 5 जून को दो अन्य आरोपियों को भी सबूत के अभाव में बरी किया गया। सर्वोच्च न्यायालय का कहना है कि गुजरात के गृहमंत्री ने बिना सोचे-समझे अभियुक्तों पर 'पोटा' लगाने की इजाजत दे दी। इन सभी बेगुनाह लोगों की जिंदगी के 11-11 साल महान लोकतंत्र की कानून व्यवस्था की भेंट चढ़ गये।

24 सितम्बर 2002 को गाँधी नगर में स्वामी नारायण मन्दिर पर दो आत्मघाती हमलावरों ने हमला कर दिया था। जिसमें 33 लोगों की मौत हुई और अनेक घायल हुए। दोनों हमलावरों को एनएसजी ने घटना स्थल पर ही मार गिराया था। इस मामले में गुजरात पुलिस एक साल तक कोई भी गिरफ्तारी नहीं कर सकी। अचानक घटना की जाँच उप-पुलिस अधीक्षक गिरीश सिंघल को सौपी गयी। उन्होंने फिल्मी अंदाज में 24 घण्टे के अन्दर ही छः लोगों-- आदम सुलेमान अजमेरी, अब्दुल कयूम, अल्ताफ मलिक, अब्दुलमियाँ कादरी, मोहम्मद हनीफ शेख और चाँद खान उर्फ शानमियाँ को गिरफ्तार करके मामले को सुलझाने का दावा किया। निचली अदालत ने सिंघल द्वारा पेश किये गये साक्ष्यों के आधार पर तीन अभियुक्तों को मृत्युदंड, एक को आजीवन कारावास, दो को दस साल की कैद और एक को पाँच साल की सजा सुना दी। ये वही सिंघल हैं जिन्हें इशरत जहाँ फर्जी मुठभेड़ मामले में सीबीआई ने गिरफ्तार किया था और सीबीआई द्वारा समय पर चार्जशीट दाखिल न करने के कारण वे जमानत पर रिहा हो गये थे। 28 मई को गुजरात सरकार ने उन्हें फिर से पुलिस के एक महत्त्वपूर्ण पद पर बैठा दिया है।

सर्वोच्च न्यायालय में कानून के रखवालों ने सभी आरोपियों को आतंकवादी साबित करने की पुरजोर कोशिश की लेकिन वे सफल नहीं हुए। रिहाई के बाद प्रेसवार्ता के दौरान घटना के आरोपी सुलेमान भाई ने बताया कि "पुलिस ने उनके साथ मारपीट की थी और बलपूर्वक एक पत्र लिखवाया था।" कोर्ट में पुलिस ने दावा किया कि यह पत्र घटना स्थल पर मारे गये आतंकवादी फिदायीन की जेब से मिला है। सर्वोच्च न्यायालय ने इस सबूत को गलत ठहराया। उसका मानना था कि जिस फिदायीन का पूरा शरीर खून और कीचड़ से लथपथ और गोलियों से छलनी था तथा जिसके कपड़े भी जगह-जगह से फटे हुए थे, ऐसी स्थिति में जेब से निकला पत्र इतना साफ-सुथरा और बिना दाग-धब्बे के कैसे हो सकता है?

अदालत की कार्यवाही के दौरान ही शासन-प्रशासन की मंशा उजागर होने लगी। इस तथ्य से पुलिस-प्रशासन द्वारा की गयी एकतरफा कार्रवाइयों का अन्दाजा लगाया जा सकता है। सरकारी तंत्र आतंकवाद की असली वजह और जिम्मेदारी से बचने के लिए किसी निर्दोष को फँसाने में जरा भी नहीं हिचकता, बल्कि उसे अपराधी घोषित करने में पूरा दम लगा देता है। न्यायशास्त्र का बुनियादी सिद्धान्त है कि एक निर्दोष को बचाने के लिए सौ दोषियों को भी छोड़ा जा सकता है, लेकिन वास्तविक सच्चाई एकदम विपरीत है। एक दोषी को बचाने के लिए सौ निर्दोषों को भी जेल में ठूँसा जा सकता है। यह किसी भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए बेहद शर्मनाक है।

मस्जिद में पहले मुफ्ती रहे अब्दुल कयूम का कहना है कि "17 अगस्त 2003 को हमें क्राइम ब्रांच ले जाया गया। ... हमें गुनाह कबूल करने के लिए बेड़ियों से बाँधकर डंडों से पिटा गया और करंट लगाया गया। हमें गुनाह कबूल करने से इनकार करने पर तब तक मारा जाता रहा जब तक कि हम बेहोश नहीं हो जाते, होश में आने पर दोबारा वही प्रक्रिया अपनाई जाती थी। एक दिन, रात में हमें कोतरपुर (इशरत जहाँ और उसके तीन दोस्तों को फर्जी मुठभेड़ में मारा गया था) ले जाया गया और मेरे आस-पास पाँच गोलियाँ चलायी गई। मुझे लगा कि अगर मैंने 'गुनाह' कबूल नहीं किया तो एनकाउंटर कर दिया जायेगा।" कयूम कहते हैं कि "हमने 11 साल जेल में गुजारे, परिवार बर्बाद हो गया। मुझे फाँसी की सजा हुई तो अखबारों ने बड़े-बड़े फोटो छापे लेकिन जब हम रिहा हुए तो इसकी खबर कुछ अखबारों और चैनलों ने ही दिखायी।"

दूसरे आरोपी सलीम की एक आतंकवादी के रूप में गिरफ्तारी की खबर सुनकर उनकी माँ को हार्ट अटैक आ गया और वे लकवे की शिकार हो गयी। सलीम ने सउदी अरब में दर्जी का काम करके कुछ पैसा कमाया था और उनकी गृहस्थी अच्छी चल रही थी। इन्होंने 2002 के दंगों के बाद राहत शिविर में 13,000 रुपये दान दिये थे। उनका कहना है कि "उसीसे मैं पुलिस की नजर में आ गया। मुझे क्राइम ब्रांच ले जाने के बाद पुलिस ने मुझसे पूछा कि मैं सउदी अरब में क्या करता हूँ, मेरे दोस्त कौन-कौन हैं? मुझे पहले बताया गया कि यह जाँच मेरे पासपोर्ट में गड़बड़ी की वजह से हो रही है फिर मुझे मारना शुरू किया गया, मुझे इल्म नहीं था कि मुझे क्यों

मारा जा रहा है। अगर मेरा नाम सुरेश, रमेश या महेश होता तो मेरे साथ यह कभी नहीं होता। हमें 29 दिन तक अवैध हिरासत में रखा गया। क्राइम ब्रांच में 400-500 डंडे मेरे तलवे पर मारते थे। मेरी पाँव की उंगली टूट गयी। आज भी मेरे पाँव काँपते हैं, पैरों में जलन होती है, मेरे कूल्हे पर आज भी 11 साल पुरानी मार के निशान मौजूद हैं। एक सीनियर अफसर में मुझे बुलाया और पूछा कि सलीम, कौन से केस में जेल जायगा? हरेन पांड्या, अक्षरधाम या 2002 के दंगे में। मुझे इन तीनों के बारे में कुछ ज्यादा पता नहीं था, मैं 1990 से सउदी अरब में था और जब घर आता तब इनके बारे में कभी बात होती। मेरे पास मार खाने की बिलकुल ताकत नहीं बची थी और मैं जैसा वह कहते वैसा करता था... मेरा मकान बिक गया, छोटे भाई को परिवार चलाने के लिए अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी, मेरे बच्चे अंग्रेजी स्कूल से उर्दू स्कूल में आ गये, अम्मी बिस्तर पर हैं। मेरे पास वक्त बहुत कम है कि मैं अपनी बिखरी हुई जिंदगी समेत सकूँ।"

अब्दुल मियां कादरी एक मस्जिद में बच्चों को पढ़ाते थे, उन्हें निचली अदालत ने 10 साल कैद की सजा सुनायी थी। उनका कहना है कि "कोर्ट में पेश करने से 13 दिन पहले 17 अगस्त, 2013 को हमारी गिरफ्तारी हुई थी। हमें पकड़ने के बाद एक कमरे में बिठाया गया कुछ देर बाद एक अधिकारी मुझसे इधर-उधर की बात करने लगा। मुझे लगा कि वह शायद मुझसे कोई जानकारी चाहते हैं। अधिकारी ने मुझसे पूछा अक्षरधाम हमले के बारे में क्या जानते हो? उस समय ऐसा लगा मानो मेरे पाँव के नीचे जमीन फट गयी। 29 अगस्त, 2003 को जुम्मे के दिन हमें मुँह पर काले कपड़े बाँधकर पत्रकारों के बीच खड़ा कर दिया गया। वह मंजर देखकर मुझ पर कयामत टूट पड़ी, घर वालों पर इसके बाद क्या बीतेगी इस ख्याल से मेरे रोंगटे खड़े हो गये। हम वतन के वफादार आज भी हैं और हमेशा रहेंगे। हमें भारत के कानून पर यकीन था। उच्च न्यायालय से इन्साफ नहीं मिला पर सर्वोच्च न्यायालय से मिलेगा यह यकीन था। लेकिन हुकूमत पर से मेरा भरोसा उठ गया है क्योंकि यहाँ 100 में से 90 प्रतिशत मामलों में बेगुनाहों को अन्दर कर दिया जाता है। जेल में मैं देख कर आया हूँ कई मासूम आज भी जेल में कैद हैं। उन्हें तुरंत बाहर निकालना चाहिए। गलत केस में लोगों को अन्दर कर देने से दहशतगर्दी बढ़ती हैं... 11 साल बाद हम बेकसूर करार हो चुके हैं लेकिन हमारा गुजरा वक्त कौन लौटा सकता है? मैंने आज तक अक्षरधाम मन्दिर नहीं देखा। अपने ऊपर बैठे लोगों को खुश करने या उनके आदेश से पुलिस वालों ने हमारी और हमारे घरवालों की जिन्दगी की खुशियाँ लूट लीं।"

निचली अदालत से मौत की सजा पाये आदम भाई अजमेरी कहते हैं कि मैंने 1998 में चुनाव में धांधली के खिलाफ आवाज उठायी थी। मैं तभी से पुलिस की नजर में था। वे कहते हैं कि उन्हें 8 अगस्त 2003 की रात को ही उठा लिया था। वे अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं कि "रात को ले जाकर मुझे एक अफसर के सामने बिठा दिया गया। अफसर ने पूछा क्या तुम मुझे जानते हो? मैंने कहा नहीं। अफसर बोला कि मेरा नाम डीजी बंजारा है। बंजारा ने पूछा कि तुम हरेन पांड्या के बारे में क्या जानते हो? मैंने कहा कि उनके कत्ल के बारे में अखबार में पढ़ा है। बंजारा ने दोबारा पूछा कि तुम टिफिन बम ब्लास्ट के बारे में क्या जानते हो? मैंने कहा कुछ नहीं। अगला प्रश्न था कि अक्षरधाम मन्दिर से तुम्हारा क्या ताल्लुक है? मैंने कहा कुछ नहीं। मेरे यह कहते ही बंजारा ने कहा कि डंडा पार्टी को बुलाओ। वह 20 दिन तक मुझे दिन-रात पीटते जब तक मैं बेहोश न हो जाऊँ। मुझे अदालत में हाजिर करने से पहले धमकाया गया कि मैंने अगर अदालत में मुँह खोला या वकील करने की कोशिश की तो परिवार को मार देंगे। मुझे कहा गया जहाँ कहा जाय हस्ताक्षर कर देना। मेरी बीबी और बच्चों को सीसीटीवी कैमरे में क्राइम ब्रांच में बैठे हुए दिखाया गया।" वे आगे कहते है कि "अखबारों में बड़े-बड़े फोटो छपे थे मेरे, जिससे बच्चों का घर से बाहर निकलना बंद हो गया और उनके स्कूल छूट गये। मैं अपने बच्चों से कहता हूँ कि मैं नहीं पढ़ पाया क्योंकि हमारे अब्बू के पास पैसे नहीं थे और यह अब अपने बच्चों से बताएँगे कि हम नहीं पढ़ पाये क्योंकि इनके अब्बू आतंकवाद के झूठे केस में जेल में थे।"

आज भी इन निर्दोष्गाों जैसे हजारों लोग अपनी जिन्दगी जेल की चारदीवारी में बिता रहे हैं। कानून में लचीलेपन का फायदा उठाकर अपराधी मौज उड़ा रहे हैं। लोकतंत्र का चौथा खम्बा मीडिया भी देशद्रोह और आतंकवाद का आरोपी होने पर भरपूर प्रचार-प्रसार करता है लेकिन आरोपी के बरी होने पर समाज में उसके खोये हुए सम्मान को वापस दिलाने में कोई दिलचस्पी नहीं लेता।

सच्ची लोकतांत्रिक न्यायप्रणाली तथ्य और तर्क के आधार पर निर्णय लेती है। आजादी के इतने वर्षों बाद भी हम सच्चे जनवाद से कोसों दूर हैं। इस तथाकथित महान लोकतंत्र पर पुनर्विचार करने की जरूरत है। ताकि और निर्दोष जिन्दगियाँ इस न्याय प्रणाली की भेंट न चढ़ सकें, परिवार बर्बाद होने से बच सकें। ❑

चिकित्सा सेवा या मौत के सौदागर

सबसे ज्यादा कर देने वाली मेहनतकश जनता आज अपनी कमाई का अधिकतम हिस्सा महँगी दवा और महँगे इलाज पर खर्च करने के बावजूद बहुत ही खराब जिन्दगी जीने के लिए मजबूर है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के सर्वेक्षण के मुताबिक हमारे देश की जनता अपनी चिकित्सा और स्वास्थ्य पर होने वाले खर्च का 40 फीसदी सिर्फ दवाओं पर खर्च करती है। 65 फीसदी लोग नियमित रूप से जरूरी दवाएँ लेने में असमर्थ हैं। 40 फीसदी से भी अधिक लोगों को अस्पताल में भर्ती होने के लिए पैसे उधार लेने पड़ते हैं या अपने गहने और घर का अन्य सामान बेचना या गिरवी रखना पड़ता है।

एक बार अस्पताल में भर्ती होकर इलाज कराने के बाद 35 फीसदी लोग गरीबी रेखा से नीचे चले जाते हैं। गरीब लोगों का कर्ज में डूबे होने का एक बड़ा कारण बीमारियों में दवाइयों पर होने वाला खर्च भी है। इसके अलावा 33 फीसदी आबादी आर्थिक तंगी के चलते बीमार होते हुए भी फीस न होने के कारण डॉक्टर को दिखा भी नहीं पाती है।

अधिकांश आबादी की खराब आर्थिक स्थिति के बावजूद स्वास्थ्य और चिकित्सा के ऊपर देशभर में खर्च होने वाली कुल धनराशि का केन्द्र सरकार से सिर्फ 4 प्रतिशत, राज्य सरकारों से 14 प्रतिशत, निजी निवेश से मात्र 2.9 प्रतिशत और निजी बीमा क्षेत्र से 0.1 प्रतिशत प्राप्त होता है। इसके बावजूद आज देश की जनता को पर्याप्त इलाज नहीं मिल पा रहा है।

हमारे देश में निजी दवा निर्माता कम्पनियों, सरकारी और निजी डॉक्टरों तथा सरकार की मिलीभगत से चिकित्सा क्षेत्र मानव सेवा की जगह मानव बाजार का रूप ले चुका है। एक ही रसायन से बननेवाली अलग-अलग कम्पनियों की दवाओं की कीमतों में जमीन-आसमान का फर्क होता है। जबकि उसी रसायन की जेनरिक दवा काफी सस्ती होती है। उदाहरण के तौर पर एक दर्द निवारक रसायन निमुसलाइड है, जिसे नॉनप्रोप्राइटरी या जेनरिक नाम से जाना जाता है और इसी साल्ट की निसीप निमलिन, निमुलिड जैसी दवा अलग-अलग कम्पनियाँ अपने-अपने ब्राँड नाम से बेचती हैं।

जेनरिक और ब्राँडिड दवाओं की कीमत में फर्क दो-चार या दस गुने का ही नहीं बल्कि पचास गुने तक होता है। जैसे तमिलनाडु मेडिकल सर्विस कॉरपोरेशन द्वारा सरकारी टेंडर से खरीद की जाने वाली एलबेंडाजोल नामक गोली जो बाजार में 12 रुपये में मिलती है, उसे फैक्ट्री से केवल 35 पैसे में खरीदा जाता है। इसी तरह एल्प्राजोलम साल्ट की दवा जो बाजार में रेस्टीब्राँड नाम से 24 रुपये 75 पैसे की एक गोली बिकती है उसे केवल 41 पैसे प्रति गोली की दर से खरीदा जाता है।

एक ही तरह की दवाओं के दो तरह से दाम कैसे हो सकते हैं। सरकार के लिए कुछ और बाजार में आम जनता के लिए कुछ और। क्या सरकार को दी जाने वाली उसी दवा में लागत कम आती है और बाजार में बेचने पर ज्यादा खर्च आता है? अगर नहीं, तो फिर इतना अन्तर क्यों है? जरूरी दवाएँ क्यों आम जनता की पहुँच से दूर हो गयी हैं? इन ब्राँडेड दवाओं की कीमत ज्यादा होने की पहली वजह है, अधिकतम खुदरा मूल्य (एमआरपी) पर दवा कम्पनियों का एकाधिकार होना और दवा मूल्य नियंत्रण कानून बनने के बाद भी सरकार द्वारा उसे प्रभावी तरीके से लागू न करना। सरकार इन देशी-विदेशी दवा कम्पनियों के प्रति उदार रुख अख्तियार करती है। दूसरी वजह सरकारी और निजी दोनों ही क्षेत्रों के चिकित्सकों की इन दवा कम्पनियों के साथ साँठ-गाँठ, जिसके चलते ये डॉक्टर सस्ती जेनरिक दवाओं के बदले उसी साल्ट की महँगी ब्राँडेड दवाएँ लिखते हैं जिसे भोलेभाले मरीजों को खरीदना पड़ता है। गरीब जनता की बीमारी ठीक हो न हो उस परिवार को ऐसी बीमारी लग जाती है जिससे छुटकारा मिलना मुश्किल होता है। अपनी लूट को जारी रखने के लिए ये ब्राँडेड दवा कम्पनियाँ सरकारी और निजी डॉक्टरों को इन गरीब मरीजों की जिन्दगी की कीमत पर महँगे तोहफे देती हैं और विदेशों की सैर कराती हैं।

अजीब है कि जिन्दगी देने वाले ही आज मौत के सौदागर हो गये हैं। सरकार की नीतियाँ सबको स्वास्थ्य सुविधा प्रदान करने की जगह कुछ देशी-विदेशी मल्टी ब्राँडेड कम्पनियों, निजी चिकित्सकों और निजी अस्पतालों के मालिकों के स्वार्थों की पूर्ति करती है।

क्या सरकार इन सरकारी और निजी डॉक्टरों और इन मल्टी ब्राँडेड कम्पनियों की लूट पर लगाम नहीं लगा सकती? अगर इन कालाबाजारियों द्वारा जनता की लूट को रोका नहीं गया तो हमें यह सोचना होगा कि सरकार को जनता के स्वास्थ्य और उसकी जान की कितनी परवाह है। अपने अधिकारों के प्रति सजग और एकजुट होकर चिकित्सा सेवा जैसी बुनियादी जरूरत के लिए संघर्ष करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। ❑

पंजाब : ड्रग तस्करी का गढ़

चुनाव के दौरान जब आचार संहिता लागू थी, तब पंजाब से चुनाव आयोग और पंजाब पुलिस ने दूसरे राज्यों की तुलना में काफी अधिक मात्रा में ड्रग (नशीली दवाएँ) जब्त किया। 5 मार्च से 1 मई तक पुलिस ने 780 करोड़ रुपये का ड्रग पकड़ा जबकि आयोग की निगरानी टीम ने 1.9 करोड़ का (426 किलोग्राम) और उड़न दस्ते ने 1.8 करोड़ का (767 किलोग्राम) ड्रग जब्त किया। एक सामान्य आकलन के हिसाब से नशे का यह कारोबार पंजाब के सालाना बजट को भी पार कर चुका है जो 50 हजार करोड़ से अधिक है। इस कारोबार में लगे तस्कर इस बात को बखूबी समझते हैं कि लोगों को किस तरह पहले नशे की आदत का शिकार बनाने वाले ड्रग बेचे जायें। उसके बाद वे हिरोइन, स्मैक और अफीम की आपूर्ती करते हैं। ये ड्रग मीठा जहर हैं। पंजाब में नशाखोरी का आलम यह है कि अमृतसर संसदीय क्षेत्र के मकबूलपूरा गाँव की 90 प्रतिशत महिलाएँ विधवा हैं क्योंकि उनके पतियों की मौत नशे के कारण हो चुकी है। पंजाब में सीमा पार, मध्य प्रदेश और राजस्थान ड्रग आपूर्ति के रास्ते हैं। जालन्धर की काजी मंडी नशे की मंडी बन गयी है। यहीं से तस्कर सरकार और पुलिस प्रशासन के संरक्षण में बेखौफ हो शराब, स्मैक और हिरोइन की घर-घर आपूर्ति करते हैं।

भाजपा समर्थित शिरोमणी अकाली दल की बादल सरकार ने लोकसभा चुनाव-2014 में करारी हार का सामना किया। हार के कारणों में सबसे प्रमुख कारण राज्यभर में सडांध बनकर फैला नशे का कारोबार माना जा रहा है। इसने बादल सरकार को झकझोर कर रख दिया। हालाँकि यह कारोबार कई सालों से बेरोक-टोक जारी था और प्रशासन के लिए एक खुला रहस्य था। सरकार तब तक इस पर पर्दा डाले रही जब तक पानी सर से नहीं गुजर गया। हार के बाद सरकार जागी और आनन-फानन में गिरफ्तारियों का दौर शुरू हुआ। 15 दिन के अन्दर 3335 लोगों को गिरफ्तार किया गया और 3000 लोगों के खिलाफ चार्जशीट दाखिल की गयी। अखबारों के स्थानीय पृष्ठ नशे के कारोबार की जानकारी से भर गये। ऐसा लगने लगा कि पूरा पंजाब इस सड़ांध में डूब गया है। छोटे-मोटे ड्रग तस्करों पर शिकंजा कसने के बावजूद इसके बड़े खिलाड़ी कानून की पहुँच से बाहर हैं। इनमें से ज्यादातर तो खुद कानून के पहरुआ हैं।

दरअसल शिरोमणी अकाली दल के वोटों में 12 लाख की गिरावट के पीछे ड्रग तस्करी और कई नेताओं का इस धन्धे में लिप्त होना मुख्य कारण था। विपक्ष ने चुनाव के दौरान मुख्यमंत्री सुखवीर सिंह बादल के साले बिक्रम सिंह मजीठिया के ऊपर ड्रग तस्करों से सम्बन्ध बनाये रखने का आरोप लगाते हुए सरकार पर हमला किया था। जबकि सरकार मजीठिया को बचाने में लगी हुई थी। अन्तरराष्ट्रीय गिरोहबाज जगदीश भोला ने गिरफ्तारी के बाद प्रवर्तन निदेशालय के सामने मजीठिया के नाम का खुलासा किया था। भोला ने तत्कालीन जेलमंत्री सरवन सिंह फिलौर के पुत्र दमनवीर सिंह पर गिरोह में शामिल होने का आरोप लगाया। इससे एक ओर दमनवीर सिंह की मुश्किलें बढ़ गयी तो दूसरी ओर सरवन सिंह को जेलमंत्री पद से हाथ धोना पड़ा लेकिन अकाली दल ने दमनवीर सिंह को पार्टी से निकाला नहीं है और सरकार द्वारा उसे बचाने की पूरी कवायद जारी है। पंजाब पुलिस भी इस मामले में चुप्पी साधे बैठी है। अब तक इस मामले में चुप्पी साधे बैठी भाजपा ने जब देखा कि दाग उसके सहयोगी दल तक सीमित न होकर उस तक पहुँचने वाले हैं तो मौके की नजाकत को देखते हुए उसने अकाली दल से दूरी बनानी शुरू कर दी।

ड्रग तस्करी मामले में गिरफ्तार 60 प्रतिशत से अधिक अपराधी 20 साल से कम उम्र के हैं। इसमें इंजीनियरिंग के डिग्रीधारी वे नौजवान भी शामिल है जिन्हें कहीं भी सम्मानजनक रोजगार नहीं मिला। रोजगार की खस्ता हालत ने भी नौजवानों को इस अंधकारपूर्ण धन्धे की ओर धकेला दिया। आज देश आर्थिक रूप से बर्बादी के कगार पर पहुँच चुका है। वैश्वीकरण की नीतियों के जरिये एक ओर मुट्ठीभर सट्टेबाजों, नेताओं, पूँजीपतियों और भ्रष्ट अधिकारियों ने अपने लिए देश के अन्दर ही स्वर्ग का निर्माण कर लिया है। तो दूसरी ओर महँगी शिक्षा, महँगी चिकित्सा और बेरोजगारी के चलते बहुसंख्य लोगों की जिन्दगी बदहाल है। नौजवानों का भविष्य अन्धकार में डूब गया है। ऐसी स्थिति में कई नौजवान जिन्दगी से निराश हो अपनी जीवनलीला समाप्त कर लेते हैं और कुछ झटपट धनी बनने के लिए अपराध का रास्ता चुन रहे हैं।

जिन्दगी से निराश नौजवान नशे की चपेट में जल्दी आ जाते हैं। वे अपने दुःख भुलाने और अकेलेपन को भरने के लिए नशे में डूब जाते हैं।

पंजाब में नशे के कारोबार का भंडा फूटने से प्रशासन, नेता और तस्करों के बीच की साँठ-गाँठ खुलकर सामने आ गयी है। आज अपराधियों का गिरोह न केवल सत्ता के गलियारे तक पहुँच चुका है बल्कि विकास के झूठे वादे की आड़ में जन-विरोधी नीतियों के जरिये जनता की छाती पर मूँग दल रहा है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र के प्रति हमारा यह कर्तव्य बनता है कि आगे बढ़कर न केवल इन जनविरोधी सरकारों के विरुद्ध संघर्ष करें बल्कि एक जन-पक्षधर सरकार बनाने की तैयारी में जी-जान लगा दें। सच है, "जब तक सज्जन चुप रहते हैं तभी तक दुर्जन राज करते हैं।"

❑

राजनीतिक पार्टियों के चंदे पर कानूनी मुहर

कांग्रेस गठबन्धन सराकर ने जाते-जाते अगस्त 2013 में कम्पनी बिल पास करके पूँजीपतियों द्वारा राजनीतिक पार्टियों को दिये जाने वाले चंदे पर कानूनी मुहर लगा दी।

यह इसी दिशा में अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व में उठाये गये वैधानिक कदम की अगली कड़ी है।

पहले भी 2002-03 में कम्पनी एक्ट 1956 में संशोधन करके यह उपाय किया गया था कि कोई भी कम्पनी अपने सालाना मुनाफे का पाँच प्रतिशत धन राजनीतिक पार्टियों को चन्दे के रूप में दे सकती है। 2013 में पारित कम्पनी बिल की धारा 182 के तहत कोई भी कम्पनी (सरकारी कम्पनी को छोड़कर) जिसका अस्तित्व तीन वित्तीय वर्षों तक रहा हो वह किसी भी राजनीतिक पार्टी को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धन मुहैया करा सकती है। किसी एक वित्तीय वर्ष में कोई कम्पनी अपने तीन वित्तीय वर्षों के औसत मुनाफे का 7.5 प्रतिशत धन चन्दे के रूप में दे सकती है।

इस बिल को पास कराने में कांग्रेस और भाजपा की मिलीजुली भूमिका रही। यशवंत सिन्हा की अगुआई में वित्त सम्बन्धी संसदीय समिति ने 31 अगस्त 2010 को 375 पेज की एक रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, जिसमें यह सिफारिश की गयी थी कि कम्पनियों द्वारा अपने तीन वर्षों के औसत मुनाफे में से 5 प्रतिशत की जगह 7.5 प्रतिशत धन राजनीतिक पार्टियों को चन्दा दिया जाय। उक्त संसदीय समिति के सुझाव को पूरी तरह स्वीकार करते हुए इसे कम्पनी बिल में शामिल कर लिया गया।

इस बिल में यह भी प्रावधान है कि कम्पनीयों के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स किसी चैरिटेबल या दूसरे फंड के लिए भी धन दे सकते हैं। यदि यह राशि उनके तीन वर्षों के औसत मुनाफे के 5 प्रतिशत से अधिक हो तो उन्हें कम्पनी की सामान्य बैठक में इसकी अनुमति लेनी होगी।

मजेदार बात यह है कि इस कानून के प्रावधानों से एकदम उलट भ्रष्टाचार पर रोक लगाने के लिए 6 जनवरी 2011 को एक मंत्री समूह का गठन किया गया था जिसका प्रधान तब वित्तमंत्री रहे प्रणव मुखर्जी को बनाया गया था। इसमें चुनाव के खर्चे के लिए पार्टियों को सरकार की ओर से धन देने के मामले को भी शामिल किया गया था। काफी कवायद के बाद सरकारी खर्चे पर चुनाव लड़ने सम्बन्धी बिल 2012 पेश किया गया जो राज्य सभा में अटका पड़ा है। इसका मकसद चुनावों में कालेधन के इस्तेमाल पर रोक लगाना था। यानी संसद में दो बिलकुल ही विपरीत उद्देश्यों से दो अलग-अलग कानून पेश किये गये जिसमें कालेधन पर रोक लगाने वाला बिल खटाई में पड़ गया जबकि कॉरपोरेट और राजनीति के गँठजोड़ पर मुहर लगाने वाला बिल पास हो गया।

राजनीतिक पार्टियों और पूँजीपति घरानों के बीच का सम्बन्ध एक खुला रहस्य है। सभी जानते हैं कि सभी राजनीतिक पार्टियाँ पूँजीपतियों के धन से संचालित होती हैं और बदले में उनके हित में कानून बनाती हैं, उनके मुनाफे को निर्बाध रूप से जारी रखने के लिए प्रबन्धक मंडल की भूमिका निभाती हैं। इस नये कानून के पारित होने से यह पुष्ट होता है कि पूँजीवादी व्यवस्था में कल तक जो चीज भ्रष्टाचार की श्रेणी में आती थी, वह कानूनी जामा पहना दिये जाने के बाद शिष्टाचार में बदल जाती है। चूँकि पूँजीपतियों द्वारा चन्दा दिया जाना अब शिष्टाचार है, इसीलिए भ्रष्टाचार के खिलाफ धर्मयुद्ध छेड़ने वाले केजरीवाल ने क्रोनी कैपिटलिज्म (दरबारी पूँजीवाद) और कॉरपोरेट के साथ भाजपा के रिश्ते पर तो खूब चर्चा की लेकिन इस नये बिल को आम आदमी पार्टी ने ही नहीं बल्कि भाजपा, कांग्रेस का विरोध करने वाली किसी भी अन्य राजनीतिक पार्टी ने चुनावी मुद्दा नहीं बनाया। ❑

जनता की निजता विदेशी शासकों के हवाले

अगर आपने आधार कार्ड बनवाया है तो सम्भव है कि आपके बारे में एकत्रित निजी जानकारियाँ, आँख की पुतली, उँगलियों के निशान और आपकी गतिविधियों का ब्योरा अमरीकी खूफिया एजेंसी एनएसए के मुख्यालय फोर्ट मेयादे में पहुँच गयी हो।

आधार कार्ड को लेकर शुरूआत से ही विवाद रहा है। नंदन निलकानी की अध्यक्षता में गठित और हजारों करोड़ के खर्च से चलायी जा रही इस योजना की न केवल मानवाधिकार संगठनों ने बल्कि सर्वोच्च न्यायालय ने भी आलोचना की थी और सरकार द्वारा इसे अनिवार्य बनाये जाने को नकार दिया था।

भारतीय खूफिया एजेंसी ने दो साल पहले सरकार को चेतावनी दी थी कि आधार द्वारा एकत्रित सूचनाएँ अमरीकी और अन्य विदेशी खूफिया एजेंसियों द्वारा हथियाए जाने की पूरी सम्भावनाएँ हैं। अमरीकी खूफिया एजेंसी की कारगुजारियों का भंडाफोड़ करने वाले एडवर्ड स्नोडेन ने कहा था कि वे पूरी दुनिया से बायोमेट्रिक डाटा एकत्रित कर रहे हैं। इसी के मद्देनजर भारतीय खूफिया एजेंसियों ने भारत सरकार को इत्तला की थी कि दुनिया के सबसे विराट बायोमेट्रिक डाटाबेस आधार को भी अमरीकी खूफिया तंत्र द्वारा हथिया लिये जाने का खतरा है। लेकिन सरकार ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया था।

आधार परियोजना में कई विदेशी कम्पनियाँ शामिल हैं जो भारतीय नागरिकों की आँखों की पुतली और उँगलियों के निशान जुटा रही हैं। अभी हाल ही में अमरीकी खूफिया एजेंसी एनएसए के जो अतिगोपनीय दस्तावेज लीक हुए हैं उनसे चोरी छुपे उन सूचनाओं को हासिल करने का सुराग मिलता है जिनके जरिये किसी व्यक्ति का पीछा करना, उसकी खुफियागिरी करना और उसे निशाना बनाना आसान हो जायेगा।

आधार जैसी योजनाओं के तहत नागरिकों के बारे में सूचनाएँ एकत्रित करने की योजना अमरीका, चीन, आस्ट्रेलिया और ब्रिटेन में भी शुरू की गयी थी, जिसे भारी विरोध के बाद रद्द कर दिया गया था। भारत सरकार ने तमाम विरोध के बावजूद इसे जारी रखा।

भारतीय एकल पहचान प्राधिकरण (यूआईडीएसआई) ने जिन विदेशी कम्पनियों को ठेका दिया है, उनसे डाटा हासिल करना अमरीकी सरकार के लिए मुश्किल काम नहीं है। इन निजी अमरीकी कम्पनियों जैसे -एक्सेंच्यूर और एल वन आइडेन्टिटी सोल्यूशन के साथ यह समझौता किया गया है कि वे इन सूचनाओं को सात साल तक अपने पास रख सकती हैं। साथ ही उन्हें यह अधिकार भी दिया गया है कि वे किसी भी भारतीय नागरिक के बारे में आधार के जरिये सूचनाएँ जुटा सकती है।

पिछले नवम्बर महीने में मोंगो डीबी कम्पनी (जिसके बारे में आरोप है कि इसका गठन सीआईए और एनएसए ने किया है) के मुख्य अधिकारी मैक्स शिरेसोन की एकल पहचान प्राधिकरण के साथ बैठक हुई थी। इस बैठक में कोई लिखित समझौता तो हुआ नहीं लेकिन जाहिर है कि यह बैठक अकारण ही नहीं हुई थी।

आधार योजना के तहत सूचना एकत्रित करने का कार्य रजिस्ट्रार जेनरल के अधीन था और एकल पहचान अधिकरण को केवल 12 अंकों का पहचान पत्र जारी करना था। बाद में नंदन निलकानी की अगुआई में उसे सर्वेसर्वा बना दिया गया। इतना सब हो जाने के बावजूद क्या आधार योजना को रद्द किया जायेगा? क्या हजारों-करोड़ रुपये खर्च करके भारतीय जनता की निजता को विदेशी शासकों के हवाले किये जाने वाली इस घातक परियोजना के कर्ताधर्ताओं पर कोई उँगली उठायेगा।

❑

बर्बर पढ़-लिख गये हैं
अंगरेजी में तमीज से बातें करना सीख गये हैं
पब्लिक के सामने क्रोध पर काबू पाना जान गये हैं
प्रोफेशनली अत्यन्त विनम्र हो गये हैं
कलम से खून करने की कला में
बहुत आगे बढ़ चुके हैं।

-विष्णु नागर

3000 से अधिक छोटे कारखाने नियंत्रण से मुक्त

राजस्थान की भाजपा सरकार द्वारा कारखाना अधिनियम 1948 में बदलाव करते हुए छोटे कारखानों को सरकार के नियंत्रण से मुक्त करने का निर्णय लिया जा चुका है। इसके तहत अब अधिनियम उन्हीं कारखानों पर लागू होगा जहाँ विद्युत उपयोग के साथ 20 और बिना विद्युत उपयोग के 40 श्रमिक काम कर रहे हैं। इस बदलाव से राजस्थान में करीब 3000 कारखाने सरकार के नियंत्रण से मुक्त हो जायेंगे। साथ ही इन कारखानों में गड़बड़ी होने पर दोषियों के विरुद्ध अभियोजन स्वीकृति सरकार के स्तर पर दी जायेगी। इससे इंस्पेक्टर राज खत्म होगा।

अब अगर किसी फैक्ट्री में 300 से कम मजदूर होंगे और उसे बंद करना है तो फैक्ट्री मालिक को सरकार से पूछने की जरूरत नहीं पड़ेगी। अभी तक सरकार ने यह सीमा 100 मजदूर तक कर रखी थी। मंत्रीमंडल की बैठक में श्रम कानूनों में संसोधन का निर्णय किया गया। ज्यादातर संसोधन उद्योगों के पक्ष में हुए। मुख्य संसोधन औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 में किया गया है। नये संसोधन के मुताबिक ठेका श्रमिकों को संस्थान का श्रमिक माने जाने की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है। इसके पीछे यह तर्क दिया गया है कि ठेका श्रम 1970 बनाये जाने से यह प्रावधान अब महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है। एक महत्त्वपूर्ण बदलाव यह है कि नौकरी से निकाले जाने पर मजदूर कभी भी दावा पेश कर सकता है, अब मजदूर को तीन साल के अंदर ही दावा पेश करना होगा।

मजदूरों की यूनियन बनाने के लिए जरुरी 15 प्रतिशत मजदूरों की संख्या को अब बढ़ाकर 30 प्रतिशत कर दिया गया है। छोटे उद्यमियों को राहत देते हुए पंजीयन कराने के लिए श्रमिकों की संख्या को 20 से बढाकर 50 करा दी गयी है। इससे कम संख्या वाले उद्यमियों को पंजीयन या लाइसेंस की जरुरत नहीं रहेगी। एक छोटा सा फैसला जरुर मजदूरों के पक्ष में हुआ है, अब मजदूरों की चटनी के समय दी जाने वाली सुविधाओं के साथ-साथ उसे तीन माह का वेतन और छह माह का बोनस भी देना होगा। विधानसभा सत्र नहीं होने के कारण इन संसोधनों को राष्ट्रपति से पूर्वानुमति प्राप्त कर अध्यादेश जारी कर दिये जायेंगे ।

❑

कमर कसने का सरकारी फरमान

माननीय मनमोहन सिंह जी ने बेल्ट टाईट करने का आह्वान किया था, याद है न? और दस साल तक हमलोग थोड़े-थोड़े अन्तराल पर अपने-अपने बेल्ट में नये-नये छेद करवाते रहे। दूसरी तरफ कुछ लोगों के नाप का भारत के बाजार में बेल्ट ही नहीं था। उनके लिये अमरीका से एक्स्ट्रा-एक्स्ट्रा-एक्स्ट्रा लार्ज बेल्ट मँगवाया जाने लगा।

नये माननीय ने भी पूरी स्पष्टवादिता दिखाते हुए आगाह किया है कि एक-दो साल तक 'कड़े फैसले' लेना जरूरी है। उनका कहना था कि सरकार के कुछ फैसले हो सकता है कि सबको अच्छे न लगें। मेरे फैसलों से उस असीम प्यार पर चोट लग सकती है जो देश ने मुझे दिया है। यदि कठोर कदम नहीं उठाये गये तो वित्तीय स्थिति नहीं सुधरेगी। ऐसे में वह हर कदम उठाया जाना चाहिए जिसकी हमें जरूरत है...।

और वे उठाने भी लगे हैं कदम... गैस की कीमत, बैंकों का निजीकरण, रक्षा क्षेत्र में सौ प्रतिशत तक विदेशी पूँजी निवेश, सार्वजानिक क्षेत्र के शेयरों की नीलामी, नर्मदा डूब क्षेत्र की गहराई छह मंजिली इमारत के बराबर बढ़ाना, पर्यावरण के कारण लम्बित सेज की फाइलों का तेजी से निस्तारण, इत्यादि...

और भी कठोर कदमों को सहने के लिए तैयार हो जाइये।

❑

यूक्रेन संकट : अमरीकी शताब्दी की राह में अडंगा

–प्रवीण कुमार

एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था का मंसूबा पूरा करने के लिए अमरीका की शह पर 2004 में यूक्रेन में कराई गयी 'नारंगी क्रान्ति' का गुब्बारा पिचक गया लेकिन नव-नाजीवादी ताकतें आज भी वहाँ तांडव मचा रही हैं। स्मरणीय है कि दूसरे विश्व-युद्ध के दौरान यूक्रेन के दक्षिणी शहर ओदेशा में नाजियों ने लगभग 22 हजार यहूदियों की हत्या की थी और शहर को नाजियों से बचाने के दौरान लगभग 3 हजार सोवियत सैनिक शहीद हुए थे। अब नाजियों की संतानों ने 2 मई को इसी ओदेशा शहर में 46 रूस समर्थक मजदूरों को ट्रेड यूनियन की इमारत में बंद करके उसमें आग लगाकर उनकी हत्या कर दी और पूरे शहर को खंडहरों में बदल दिया। वे पूरे यूक्रेन में स्वास्तिक के काले निशान बनाते घूम रहे हैं। खुले आम रुसी भाषीयों और रूस समर्थकों की हत्याएँ कर रहे हैं तथा हिटलर और नाजीवाद का विरोध करने वालों को जेल में डाल देने की माँग कर रहे हैं।

1991 में सोवियत संघ के विघटन के बाद विश्व शक्ति सन्तुलन में बदलाव से प्रफुल्लित अमरीका और यूरोप यूक्रेन पर वर्चस्व कायम करने और वहाँ अपनी पिट्ठू सरकार बैठने की कोशिशें कर रहे थे। तब नव-नाजीवादी समूह और तथाकथित राष्ट्रवादी शक्तियाँ ही उनका आधार थे। जिनके दम पर 2004 में अमरीका और पश्चिमी देशों ने यूक्रेन में तख्तापलट कराया और इसे "नारंगी क्रान्ति" का नाम दिया। इन्होंने यूक्रेन और रूस के बीच में दूरी तो पैदा कर दी लेकिन वहाँ अपना पिट्ठू शासक बैठाने में वे सफल नहीं हो सके। अपने आर्थिक हितों को ध्यान में रखते हुए यूक्रेन का झुकाव धीरे-धीरे रूस की ओर बढ़ता गया। 2012 में यूरोपीय संघ ने यूक्रेन के राष्ट्रपति विक्टर यांकोविच से वहाँ एक मुक्त व्यापार क्षेत्र बनाने के बारे में बातचीत की। यांकोविच ने बाद में इस बातचीत को बंद कर दिया। आर्थिक संकट में फँसे यूरोपीय संघ के साथ मुक्त व्यापार क्षेत्र के समझौते से उन्हें खुद कोई खास फायदा होने की सम्भावना नहीं दिखायी दी। जबकि यूरोपीय देशों को उम्मीद थी कि उभरती हुई मजबूत अर्थव्यवस्था वाले इस देश में एक अच्छा बाजार मिल जायेगा जो आर्थिक संकट में फंसी उनकी अर्थव्यवस्था को उबारने में सहायक होगा। अमरीकापरस्त नवनाजीवादी पार्टियों, राष्ट्रवादी पार्टियों और गैर सरकारी संगठनों ने इस समझौते से देश को होने वाले फायदे का झूठा प्रचार किया। इस सब के विपरीत यांकोविच ने रूस के साथ समझौता करके पहले से लीज पर दिये गये सेवास्तोपोल, जहाँ रूस का नौसैनिक अड्डा है, उसकी लीज अवधि 2017 से बढ़ाकर 2042 कर दी। बदले में रूस ने यूक्रेन को बहुत ही सस्ते दामों पर प्राकृतिक गैस देने का करार किया।

यूरोपीय संघ के साथ मुक्त व्यापार समझौते की बातचीत टूटने के तुरन्त बाद, सरकार के इस फैसले के खिलाफ नवनाजियों ने वहाँ उत्पात शुरू कर दिया। साथ ही अमरीकी और यूरोपीय कम्पनियों के चन्दे पर पलने वाले गैर सरकारी संगठनों ने शासन में भ्रष्टाचार के मुद्दे को लेकर राजधानी कीव में आन्दोलन शुरू कर दिया। हाल ही में उन्होंने यही कोशिश मास्को में की थी, लेकिन उन्हें बहुत ज्यादा सफलता नहीं मिल पायी थी। यूक्रेन में अपेक्षाकृत कमजोर सरकार होने के कारण वहाँ नव-नाजीवादियों, राष्ट्रवादियों और गैर सरकारी संगठनों का गठजोड़ यांकोविच की सरकार का तख्ता उलटने में कामयाब रहा।

यूक्रेन की लगभग 17 प्रतिशत आबादी रुसी भाषी लोग हैं। इसके अलावा काफी बड़ा हिस्सा यूक्रेनी और रुसी, दोनों बोलने वालों का है। पूर्वी भाग के कुछ लोग तातार भी हैं। नव-नाजीवादियों ने अंतिम चरण में बड़ी चतुराई से सरकार के खिलाफ आन्दोलन को शुद्ध यूक्रेनी और दूसरे भाषा-भाषियों के बीच नस्ली लड़ाई का रूप दे दिया। सरकार विरोधी मुख्यतः देश के पश्चिमी भाग में ही सक्रिय थे और पूरब में यांकोविच की मजबूत स्थिति थी, खासकर क्रीमिया प्रायद्वीप में। नव-नाजीवादियों ने पूरे देश में रूसी भाषियों व यांकोविच समर्थकों पर हिंसक हमले शुरू कर दिये। इस कुकृत्य में यूक्रेनी सेना और अर्ध सैनिक बलों ने खुलकर इनका साथ दिया। लेकिन पूरे यूक्रेन में जनता ने इस गठबंधन के खिलाफ भी बड़े-बड़े प्रदर्शन शुरू कर दिये।

क्रीमिया की जनता ने जनमत संग्रह में बहुमत हासिल कर खुद का रूस के साथ विलय कर लिया।

यांकोविच के तख्तापलट के बाद अस्थायी सरकार ने 25 मई को चुनाव करवाने की घोषणा की और सुप्रीम कोर्ट के चार जजों के पैनल को मामले की जाँच का आदेश दिया। इस न्यायिक आयोग के क्रियाकलापों से दक्षिणपंथियों व नव-नाजीवादियों को शीघ्र ही एहसास हो गया कि वह यूरोप व अमरीका की शह पर किये गये इस तख्तापलट का विरोध करेगा और राष्ट्रपति विक्टर यांकोविच के अपदस्थ किये जाने को गैर-संवैधानिक करार देगा। इस सम्भावना के चलते नव-नाजीवादी तमाम नैतिकताओं को ताक पर रखते हुए दर्जनों की संख्या में हथियारबंद होकर सुप्रीम कोर्ट में घुस गये, वहाँ जजों के प्रवेश पर पाबंदी लगा दी और इस इमारत को सील कर दिया। इसी दौरान 3 मार्च को यूक्रेन के नौसेना प्रमुख ने खुलकर रूस के पक्ष में अपनी निष्ठा जाहिर की। नई सरकार ने उन्हें तत्काल पद से हटा दिया।

यूक्रेन का संकट वास्तव में अमरीकी नेतृत्व वाले एक ध्रुवीय विश्व के अन्तरविरोधों की एक बानगी है। 1956 में, पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद सोवियत संघ सामाजिक साम्राज्यवाद की नयी भूमिका में सामने आया। विश्व में सोवियत संघ और अमरीका के नेतृत्व में साम्राज्यवाद के दो ध्रुव स्थापित हुए। हालाँकि दोनों के गुण-धर्म में अन्तर थे। सोवियत संघ ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के बावजूद एक रणनीति के रूप में बचे-खुचे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षो में पराधीन राष्ट्रों की सहायता करने और नव-स्वाधीन देशों को अमरीका का नव-उपनिवेश बनने से बचाने का काम जारी रखा। सोवियत संघ एक तरफ अपने आंतरिक संकट और दूसरी ओर द्वितीय विश्वयुद्ध से अमरीका को मिले बेहिसाब आर्थिक लाभ के कारण साम्राज्यवादी होड़ में अमरीका के आगे टिक नहीं पाया। 1990 तक आते-आते उसकी अर्थव्यवस्था तबाह हो गयी। सोवियत संघ टूटकर 14 राष्ट्रों में बंट गया। अमरीका के नेतृत्व में एक ध्रुवीय विश्व बना। उसने नाटो की सेनाओं को साथ लेकर नव-उदारवादी आर्थिक नीतियाँ पूरी दुनिया पर थोपना शुरू किया। फिर भी अमरीका, रूस को हमेशा एक शान्त शत्रु के रूप में देखता रहा है।

जर्मनी के एकीकरण के समय अमरीकी और पश्चिमी नेताओं ने रुसी राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव से वादा किया था कि अगर वे जर्मनी के एकीकरण का समर्थन करने हैं तो नाटो पूरब में एक इंच भी विस्तार नहीं करेगा। लेकिन उन्होंने झूठ बोला था। उन्होंने सोवियत संघ के विघटन के समय राष्ट्रपति बोरिस येल्तिसिन से वादा किया था कि नाटो की सेनाएं कभी भी रूस की सीमा तक नहीं पहुचेंगी। लेकिन उन्होंने पोलैंड, बुल्गारिया और रोमानिया में सैनिक अड्डे बनाये। उन्होंने इस बार भी झूठ बोला। फ्रांस, जर्मनी और पोलैंड के विदेश मंत्रियों ने रूस से वादा किया था कि अगर वह यूक्रेनी राष्ट्रपति विक्टर यांकोविच को सड़कों से सेना हटा लेने के लिए तैयार कर ले, तो नव-नाजीवादी और दूसरे तमाम दक्षिणपंथी विद्रोही समूह हथियार डाल देंगे, राष्ट्रीय एकता की सरकार का गठन किया जायेगा और संवैधानिक सुधार किये जायेंगे जो यूक्रेन के रुसी भाषी क्षेत्रों के हितों को आगे बढ़ाने की गारंटी करेंगे। लेकिन जैसे ही यांकोविच ने सेना और पुलिस को वापस बैरक में बुलाया, विद्रोहियों ने सभी मुख्य दफ्तरों पर कब्जा कर लिया और राष्ट्रपति यांकोविच को कीव छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया। उन्होंने फिर झूठ बोला।

लेकिन इस बार परिस्थितियाँ कुछ बदल गयी हैं। नव-उदारवाद का अमरीकी मॉडल बुरी तरह असफल हुआ है। अमरीका, यूरोपीय संघ और जापान गम्भीर आर्थिक संकट से जूझ रहे हैं। जबकि रूस की अर्थव्यवस्था काफी हद तक पटरी पर आ चुकी है। चीन एक तेजी से बढ़ती हुई मजबूत अर्थव्यवस्था के रूप में स्थापित हो चुका है। यूरोपिय संघ और अमरीका द्वारा यूक्रेन में तख्ता पलट करवाने और उसे नाटो में शामिल करने के खिलाफ रूस वहाँ मजबूती से पैर जमा चुका है। जनता विद्रोहियों के खिलाफ हथियारबंद होकर लड़ रही है। यूक्रेन के बड़े हिस्से से विद्रोहियों का नियंत्रण समाप्त हो चुका है। क्रीमिया ने पहले ही रूस में अपना विलय कर दिया है।

अमरीका और यूरोपिय देश पहले से ही नाटो के माध्यम से रूस को घेरते आये हैं। बाल्टिक सागर के क्षेत्र में पोलैंड, लिथुआनिया और चेक गणराज्य में पहले से ही नाटो के सैनिक अड्डे हैं। रोमानिया और जार्जिया में सैनिक अड्डा स्थापित करके वह काला सागर में भी रूस की स्थिति को कमजोर कर चुके हैं। उनकी मंशा यही है कि यूक्रेन में भी देर-सबेर सैनिक अड्डा स्थापित करके कॉकेशिया और काला सागर में रूस को पूरी तरह घेर लिया जाय। तब नाटो सैनिक अड्डे से मास्को की दूरी 425 किमी से भी कम रह जायेगी और भूमध्य सागर तक रूस की पहुँच भी नहीं रह जायेगी।

अमरीका द्वारा लीबिया में तख्तापलट करवाने का एक मकसद भूमध्य सागर में रूस की स्थिति को कमजोर करना भी था। ऐसा ही वह सीरिया में चाहता था लेकिन रुसी हस्तक्षेप के चलते सफल नहीं हो पाया। यूक्रेन संकट के दौरान ही अमरीका काले सागर में अपने युद्धपोत और लड़ाकू विमान भेज चुका है। नाटो के चीफ एंडर्स फोग का कहना है कि "नाटो का इस क्षेत्र (बाल्टिक क्षेत्र) में विस्तार हमारे समय की महानतम सफलताओं में से एक है। लेकिन हमारा उद्देश्य अभी पूरा नहीं हुआ है और हम बाल्टिक देशों में और अधिक लड़ाकू विमान तैनात करेंगे।" रूस की यूरोपिय सीमा के चारों ओर अमरीका कभी इरान और लेबनान के खतरे का नाम लेकर तो कभी आतंकवाद के खिलाफ जंग के नाम पर विश्व के सर्वाधिक उन्नत हथियार तैनात कर रहा है। उसकी योजना पोलैंड में रूस की सीमा के निकट मिसाइल प्रतिरोधी प्रणाली लगाने की है।

पुतिन के दौर में रूस की आर्थिक स्थिति मजबूत हुई है। वह नयी आर्थिक परिस्थितियों में अपने लिये ज्यादा जगह चाहता है। रूस की योजना पूर्वी यूरोपिय देशों व पूर्व-सोवियत देशों को साथ लेकर एक यूरेशियाई आर्थिक संघ बनाने की है। इसके लिये वह पूर्व-सोवियत और पूर्वी यूरोपिय राष्ट्रों के साथ अपने आर्थिक रिश्तों को पुनः स्थापित करना चाहता है। अमरीकी नेता सरेआम घोषणा कर चुके हैं कि उनका उद्देश्य यूरोपिय संघ की तर्ज पर रूस के यूरेशियाई आर्थिक संघ के निर्माण की कोशिशों को रोकना है। 2012 में हिलेरी क्लिंटन ने कहा था कि "रूस इस इलाके का दुबारा सोवियतीकरण करना चाहता है... हम इस योजना को धराशायी करने या रोकने का उपाय कर रहे हैं।"

यूरेशियाई आर्थिक संघ के निर्माण की पुतिन की महत्त्वाकांक्षी योजना उन्हें ताकत और प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँचा सकती है। लेकिन इस अति महत्त्वाकांक्षा के चक्कर में वे अपने हाथ भी जला सकते हैं। हालाँकि अमरीका और यूरोप खुद आर्थिक संकट में फँसे होने के कारण अभी उन पर ज्यादा कठोर प्रतिबन्ध नहीं लगा पायेंगे। यूरोपीय संघ के भीतर और अमरीका के साथ यूरोपीय संघ के अन्तर्विरोधों का भी रूस को लाभ मिलेगा। जर्मनी के भूतपूर्व चांसलर हेलमर शिमीथ का कहना है कि "क्रीमिया में रूस की नीति एकदम सही है और इससे किसी अन्तरराष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं हुआ है और प्रतिबन्ध लगाने की सभी बातें मूर्खता हैं।"

अमरीकी राष्ट्रपति पद का सपना देखने वाली हिलेरी क्लिंटन ने रुसी राष्ट्रपति पुतिन को हिटलर का अवतार कहा है और जॉन कैरी ने रूस पर और ज्यादा आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने की सलाह दी है हालाँकि इन घुड़कियों के बावजूद अमरीका ने रूस पर खुद केवल कुछ रूसी सम्पत्तियों और आधिकारिक यात्राओं की पाबंदी लगाई है। जबकि वह यूरोपिय देशों पर दबाव बना रहा है कि वे रूस पर आर्थिक पाबन्दी लगाये। इसके जवाब में यूरोपिय संघ के कमिशनर गुन्टर वेर ह्यूगन का कहना हैं कि "यूरोपिय संघ अपनी अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुँचाने की कीमत पर रूस पर कोई अर्थपूर्ण प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता।" रूस आज अलग-थलग नहीं, बल्कि विश्व आर्थिक व्यवस्था में पूरी तरह मिलीजुली अर्थ व्यवस्था है। जर्मनी की 600 कम्पनियों का रूस में खरबों डॉलर का सालाना व्यापार है। इसी के साथ-साथ जर्मनी की 30 प्रतिशत ऊर्जा जरूरतों की पूर्ति भी रूस करता है। ब्रिटेन के स्टॉक एक्सचेंज में 45 रुसी कम्पनियाँ सूचीबद्ध हैं। रूस के विदेशी व्यापार का लगभग आधा यूरोपिय देशों के साथ होता है। रूस के विदेशी पूँजी निवेश में भी 75 प्रतिशत पूँजी यूरोपिय देशों की लगी है। अधिकतर यूरोपिय आयुद्ध निर्माताओं के लिए रूस एक शानदार बाजार है। क्या ठहरावग्रस्त यूरोपिय देश अमरीकी साम्राज्यवादी सनक के लिए रूस से बैर मोल ले सकते हैं। चीन पहले ही चेतावनी दे चुका है कि रूस पर लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्ध विश्व के मौजूदा आर्थिक संकट से उबारने की सभी सम्भावनाओं का गला घोंट देंगे।

विश्व का सबसे अधिक ऊर्जा भण्डार रूस के अधिकार में है और चीन के पास सर्वाधिक तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था और विशाल वित्तीय संसाधन हैं। पेपे एसकोबर का कहना है कि "अगर चीन और रूस के बीच डॉलर के बजाय रूबल और येन में व्यापार होने लगे तो वालस्ट्रीट के नीचे की जमीन खिसक जायेगी।" लेकिन यहाँ तक बात पहुँचने की कोई सम्भावना नजर नहीं आती। क्योंकि चीन खुद अमरीका से बहुत निकटता से जुड़ा है। अमरीका के ट्रेजरी बाण्ड में चीन का कई ट्रिलियन डॉलर का पूँजी निवेश है। अमरीका सीरिया और इरान में रूस के सहयोग के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता और अगर रूस ने इन दोनों देशों को उच्च तकनीकी हथियार बेच दिये तो अमरीका के वहाँ से पाँव उखड़ सकते हैं।

आज की जटिल परिस्थितियों में यूक्रेन की घटना को ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर देखना अनुचित है। तीसरे विश्वयुद्ध की तैयारी या शीत युद्ध की शुरुआत के रूप में इसकी जो व्याख्या की जा रही है वह तथ्यों से मेल नहीं खाती। यह सच है कि नवउदारवाद का अमरीकी मॉडल फेल हो चुका है। अमरीका, यूरोपिय संघ और जापान जैसी अर्थव्यवस्थाएं गम्भीर आर्थिक संकट में फंसी हुई हैं। 1990 के दशक की शुरुआत में जिस अमरीकी शताब्दी का डंका बज रहा था उसके तेवर में भी कमी आयी है। पूरी दुनिया में अलग-अलग तरह की गुटबंदियाँ बन रही हैं। एक ध्रुवीय विश्व के मॉडल को नकारे बिना ही क्षेत्रीय और अन्तर महाद्वीपीय सन्धियाँ हो रही हैं। रूस और चीन इस विश्व शक्ति सन्तुलन में अपने लिये थोड़ी ज्यादा बेहतर स्थिति चाहते हैं। लेकिन दोनों की अर्थव्यवस्थाएं गहराई तक अमरीकी अर्थव्यवस्था से जुड़ी हुई और परस्पर निर्भर हैं। इन दोनों अर्थव्यवस्थाओं का हित भी इसी में है कि अमरीकी अर्थव्यवस्था मजबूत रहे। संकट के समय अमरीका की सबसे ज्यादा मदद चीन ने ही की थी। इन दोनों में इतनी ताकत नहीं है कि वे अमरीका को सीधे-सीधे चुनौती दे सकें। विकसित पूँजीवादी शक्तियों में से किसी के पास भी कोई ऐसा वैकल्पिक मॉडल नहीं है जो नवउदारवाद की जगह ले सके। इसी के साथ-साथ सभी साम्राज्यवादियों को यह अच्छी तरह याद है कि दोनों विश्व युद्धों के बाद आर्थिक तबाही और जन क्रान्तियों का दौर आया था और काफी मुश्किलों से वे अपने आप को दुबारा खड़ा कर पाये थे।

आज का दौर विश्व साम्राज्यवादी शक्तियों के मेलमिलाप का दौर है। लेकिन यह भी सच है कि लुटेरों के बीच साँठगाँठ स्थायी नहीं होती। एक ध्रुवीय विश्व के कर्ताधर्ताओं के बीच की ये दरारें और उनके आपसी कलह-विग्रह भले ही तत्काल किसी नये बदलाव को जन्म न दें लेकिन ये आने वाले समय की ओर संकेत कर रहे हैं। लुटेरों के बीच एकता भंग होना और साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था का विनाश अवश्यम्भावी है।

❑

फैक्ट्री की जमीन के लिए बुजुर्ग दम्पती को पेड़ से बाँधा, मकान पर चला दी जेसीबी

जैतारण थाना क्षेत्र के मोहराई गाँव म. शनिवार को एक सीमेन्ट फैक्ट्री के लिए जमीन अधिग्रहण कर रहे फैक्ट्री प्रबन्धन से जुड़े लोगों ने एक वृद्ध दम्पती को पेड़ से बाँध दिया। फिर उनकी जमीन पर जेसीबी चला दी। ग्रामीणों का आरोप यह भी है कि बुजुर्ग दम्पती के मकान में भी तोडफ़ोड़ की गयी। ग्रामीणों के विरोध जताने पर आरोपी फरार हो गये। पीड़ित ढगलाराम ने बताया कि न तो उन्होंने जमीन बेची है, न ही उनके कोई संतान है जो उससे छिपाकर जमीन बेच दे। तो फिर कोई मेरी जमीन पर कब्जा कैसे ले सकता है। जैतारण डीएसपी वीरसिंह शेखावत ने मामले से अनभिज्ञता जाहिर की। कहा- मैं बाहर हूँ। मामला रेवेन्यू का है। इसमें पुलिस कर भी क्या सकती है।

अमृत प्रजापति की मौत

दुष्कर्म मामले में आसाराम के खिलाफ गवाही देने वाले अमृत प्रजापति की हाल ही में मौत हो गयी। उन्हें 23 मई को राजकोट म. गोली मारी गयी थी। तभी से उनका इलाज अस्पताल म. चल रहा था।

अमृत प्रजापति आसाराम केस म. अहम गवाह थे। उन्होंने आसाराम के खिलाफ कई गम्भीर आरोप लगाये थे। जोधपुर में एक सेविका के आसाराम पर दुष्कर्म का आरोप लगाने के बाद प्रजापति ने आसाराम के खिलाफ गवाही दी थी। उन्होंने आश्रम में होने वाली कई गतिविधियों का खुलासा भी किया था।

आसाराम के खिलाफ गवाही देने के चलते ही अमृत प्रजापति 23 मई को जानलेवा हमला किया गया। ये हमला उस समय हुआ जब प्रजापति राजकोट के पेडक रोड पर स्थित अपने ओम शान्ति क्लीनिक मं बैठे हुए थे। इसी बीच दो युवक वहाँ पहुँचे फायरिंग करके बाइक से फरार हो गये।

कहानी

हत्यारे

अमरकांत

क्वार की एक शाम को पान की एक दुकान पर दो युवक मिले। आकाश साफ, नीला और खुशनुमा था और हवा आने वाले मौसम की स्मृति में चंचल। एक युवक गोरे रंग का, लंबा, तगड़ा और बहुत सुंदर था, यद्यपि उसकी आँखें छोटी-छोटी थीं। वह सफेद कमीज और आधुनिक फैशन की एक ऐसी तंग पैंट पहने था, जिसको फाड़ कर उसके बड़े-बड़े और सुडौल चूतड़ बाहर निकलना चाहते थे। पैरों में जूते थे, किन्तु मोजे नहीं थे और बाल उलटे फिरे हुए थे। दूसरा युवक सांवला, ठिगना और तंदुरुस्त था। उसकी दाढ़ी-मूंछ अपने साथी की तरह ही सफाचट थी, पोशाक भी उसी ढंग की थी, किन्तु सिर पर कश्मीरी टोपी थी, पैंट का रंग चाकलेटी न होकर भूरा था और कमीज की दो बटनें खुली होने के कारण बनियान साफ दिखाई दे रही थी।

"हैलो, डियर!

"हैलो, सन!" गोरा पास आकार खड़ा हो गया।

"इतना लेट क्यों, बेटे?"

"भई, बोर हो गए!"

"कोई खास बात?"

"यही नेहरु है, यार! आज उसका एक और पत्र मिला है।"

"आई सी!" सांवले की आँखों और होंठों के कोरों में हास्य की हल्की सिकुड़ने पैदा होकर विलीन हो गईं।

"हाँ, डियर, यह आदमी मुझको परेशान कर रहा है। मैंने बार-बार कहा कि, भाई मेरे, भारत की प्राईम मिनिस्ट्री किसी किसी दूसरे व्यक्ति को दो, मेरे पास बड़े-बड़े काम हैं। लेकिन मानता ही नहीं।"

"क्या कहता है?"

"वही पुराना राग! इस बार लिखा है अब मैं थक गया हूँ। गाँधी जी देश का जो भार मुझे सौंप गए उसको मैं आपके मजबूत कन्धों पर रखना चाहता हूँ। इस अभागे देश में आज आपसे काबिल और समझदार दूसरा कोई भी नहीं है!"

दो लट्टू तेजी से नाच कर सहसा गिर गए हों, इस तरह वे कुछ क्षण हँस कर गम्भीर हो गए।

"और भी तो नेता हैं?" सांवले ने पूछा।

"नेहरु देश के और सभी नेताओं को निकम्मा और बातूनी समझता है। तुमको तो मलूम है न कि लास्ट टाइम जब मैं दिल्ली गया था तो नेहरु ने अशोक होटल में आकर मुझसे मुलाकात की थी?"

"नहीं! तुम हरामी की औलाद हो, कोई बात बताते भी तो नहीं!" सांवले की आँखें बटन की तरह चमकने लगीं।

"नेहरु मेरा हाथ पकड़ कर रोने लगा। बोला, आज देश भारी संकट से गुजर रहा है। सभी नेता और मन्त्री बेईमान और संकीर्ण विचारों के हैं। जो ईमानदार हैं उनके पास अपना दिमाग नहीं है। मेरी लीडरशिप भी कमजोर है। मेरे अफसर मुझको धोखा देते है। जनता की भलाई के लिये मैंने पांचसाला योजनाएँ शुरू कीं, लेकिन ब्लाकों के सरकारी कर्मचारी अपने घरों को भरने में लगे हैं। मैं जानता हूँ कि सारे देश में कुछ लोग लूट-खसोट मचाए हुए हैं, लेकिन मैं उनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं कर सकता!"

"अरे!"

"किसी से कहना मत, साले!।।।"

उसने अंत में कहा, "देश को आज केवल आपका ही सहारा है। आप ही पूँजीपतियों, मन्त्रियों और अफसरों के षड्यंत्र को खत्म करके समाजवाद कायम कर सकते हैं!"

"अब तुम क्या सोच रहे हो?"

"ऐसे छोटे-मोटे काम माबदौलत नहीं करते!"

"यार, तुमको देश की खातिर कुछ तो झुकना ही चाहिए!"

"नहीं बे! मैं सिद्धान्तों का आदमी हूँ। नेहरु को ट्रंक कॉल करके आ रहा हूँ, इसीलिये तो देर हुई।"

"अच्छा?"

"हाँ! मैंने साफ-साफ कह दिया- देश की प्राइम मिनिस्ट्री मुझे मंजूर नहीं। मेरे सामने बहुत बड़े-बड़े सवाल हैं। सबसे पहले तो मुझे विश्व-शांति कायम करनी है!"

दोनों दांत खोल कर हँसने लगे।

"तुम्हारा सोचना एक तरह से ठीक ही है। हाँ, मुझकों भी एक मामूली-सी बात याद आ गई। कल मुझको भी अमरीका के प्रेसीडेंट केनेडी का एक तार मिला था।"

"क्या लिखता है?" गोरे की आँखें सिकुड़ गई।

"मुझको अमरीका बुला रहा है। उसने लिखा है- आप जैसा सहसी व्यक्ति आज संसार में दूसरा नहीं। आप आ जायेंगे तो अमरीका निश्चित रूप से रूस को युद्ध में हरा देगा।"

"तुमने कोई जवाब दिया?"

"मैंने भी केबुल कर दिया हैं कि मैं राष्ट्रीय विचारों का युवक हूँ और इस घोर संकट के समय किसी भी हालत में अपने देश को छोड़ कर किसी दूसरी जगह नहीं जा सकता!"

"अच्छा किया। वैसे वह शख्स हैं बहुत सीधा-सादा। मेरी तो बड़ी इज्जत करता है। मैंने ही उससे तुम्हारी सिफारिश कर दी थी!"

इस पर वे एक ही साथ इस तरह सिर नीचे कर हँसने लगे, जैसे अपनी निकले छातियों को देखकर खुश हो रहे हों। परन्तु बगल में खड़े एक पैंटधारी सज्जन की खिलखिलाहट सुन कर फ़ौरन गम्भीर भी हो गये। उनकी आँखें सिकुड़ गईं, होटों में दृढ़ता आ गयी और गर्दनें टन गई। इसके बाद गोरे ने अजीब शान से आगे बढ़कर पानवाले से कैप्सटन का डिब्बा ले लिया। फिर दोनों ने एक-एक सिगरेट सुलगाई और और अंत में शंटिंग करने वाले रेल के इंजिन की तरह लापरवाही से धुआँ छोड़ते हुए वहाँ से चलते बने।

एक चौड़ी और साफ-सुथरी तारकोल की सड़क के दोनों ओर भव्य दुकानें थीं। अगल-बगल दोनों फुटपाथों पर हर उम्र, पेशा और रंग-रूप के स्त्री-पुरुषों की उत्साही भीड़े विपरीत दिशाओं को सरक रही थीं। वे बायीं पटरी से आगे बढ़ रहे थे। उनके कूल्हे खूब मटक रहे थे। उनके हाथ कुछ फैल कर इस तरह आगे-पीछे हो रहे थे, जैसे वे खड़े होकर तैर रहे हों। वे अकसर अपने दायें और बायें अत्यधिक नाराजी से घूरते थे। एक बार जब भड़कीले वस्त्रों से सज्जित कुछ छात्राओं का एक दल सुगंध उड़ाता हुआ बगल से गुजरा तो उन्होंने होंठ सिकोड़ कर चुम्बन की आवाजें पैदा कीं। जब वे बाजार के दूसरे छोर पर पहुँच गये तो उन्होंने सरदार की दुकान के सामने खड़े होकर बादाम का शर्बत पिया, बनारसी पानवाले के यहाँ जाकर चार-चार बीड़े मगही पान खाए और अंत में पटरी से वापस लौटने लगे।

"उस लौंडिया को पहचान रहे हो?"

"नहीं।" सांवले ने पीछे घूम कर एक दुबली-पतली लड़की को जाते हुए देखा। "तुम साले गदहे हो! जब मैं प्रधानमन्त्री बनूँगा तो तुमको सेक्रेटेरियट का भंगी बनाऊँगा! बेटे, यह है चंद्रा सिन्हा। एम।ए। इंग्लिश से टॉप करके अब रिसर्च कर रही है। वह मुझको अपना पति मान चुकी है।"

"या पुत्र?"

"मजाक नहीं, डियर! कई बार चरण पकड़ कर रो चुकी है। लेकिन तुम तो जानते ही हो कि मैं बाल-ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कर चूका हूँ!"

"तुम्हारे बाप भी तो बाल-ब्रह्मचारी थे।"

दोनों के मुँह कानों तक फैल गये।

"यार, तुम हर बात को नानसीरियस बना देते हो! मैं देश की कोटि-कोटि जनता के कल्याण के लिये अपील करता हूँ कि तुम गम्भीर बनो और अनुशासन में रहो!"

"अच्छा, फरमाइए, हुजूर शहंशाह हरामी-उल-मुल्क!"

"तो हे अर्जुन, सुनो! एक रोज प्रोफेसर दीक्षित मेरे पास आकार गिड़गिड़ाने लगे।"

"इंग्लिश डिपार्टमेंट के हेड?"

"हाँ, बे, और कौन प्रोफेसर दीक्षित है इस अखिल विश्व में?"

"गलती हुई, सरकार!"

"आते ही हाथ जोड़कर बोले- इस संसार में आप ही मेरी मदद कर सकते हैं। चंद्र सिन्हा के बिना मैं एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकता। वह मामूली स्टूडेंट थी, लेकिन मैंने ही उसको टॉप कराया। मैंने उससे कई बार कहा है कि तुमको दो वर्ष में ही डाक्टरेट दिला दूँगा। मैंने हर दर्जे के लिये पाठ्य-पुस्तकें और कुंजियाँ लिख कर जो लाखों रूपये कमाये हैं, उनको चंद्रा के चरणों पर न्योछावर करने को तैयार हूँ। लेकिन वह तो मेरी ओर देखती भी नहीं। वह आपके ही नाम की माला जपती रहती है। आप समझा देंगे तो कहना मान जायेगी!"

"तुम तो, बेटा, फिर डरे होंगे? तुम्हारा एक पीरियड वह लेता जो है!"

"हुश! सारा देश जिसकी पूजा करता है वह उस पिद्दी से डरेगा? मैंने डांट कर उससे पूछा-बच्चू, पाठ्य-पुस्तकों का रोब तो बहुत दिखाते हो, लेकिन क्या तुम इससे इनकार कर सकते हो कि तुम्हारी सभी पुस्तकें तुम्हारे शिष्यों की लिखी हुई हैं?"

"फिर क्या बोलिस?"

"बोलता क्या? थर-थर काँपने लगा। मेरे चरण पकड़ कर प्रार्थना करने लगा कि मैं यह बात किसी से न कहूँ! मैंने कड़क कर उत्तर दिया- मैं जानता हूँ कि तुम बड़े-बड़े अफसरों और मन्त्रियों की चापलूसी करते हो। तुमने अनगिनत लड़कियों की जिन्दगी इसी तरह चौपट की है। चंद्रा सती-शाध्वी नारी है, अगर आइंदा तुमने उसको बुरी नजर से देखा तो मुझे बाध्य होकर देश की शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा।"

सहसा एक बुकस्टाल ने उनका ध्यान आकर्षित किया, जिसके सामने एक जवान, गोरी और सुंदर महिला खड़ी थी। उसका जूड़ा सर्प की कुंडली कि तरह पीछे बंधा था और उसके पुष्ट शरीर पर गेरुए रंग की एक रेशमी साड़ी सयत्न लापरवाही के साथ लिपटी थी, जिससे वह कोई बोद्ध भिक्षुणी कि तरह दिखाई दे रही थे। वह 'ईव्स वीकली' को ध्यानपूर्वक उलट-पुलट कर देख रही थी, परन्तु उसके मुख पर इस आशा का भाव था कि लोग उसको अत्यधिक आधुनिक और प्रबुद्ध समझें। वे भी मुँह से धीरे-धीरे सीटी की आवाजें निकालते हुए निकट आकार खड़े हो गये और कुछ पत्र-पत्रिकाओं को उलटने-पुलटने लगे। उन्होंने बारी-बारी से 'रेखा', 'गोरी', 'रीडर्स डाइजेस्ट', 'एलस्ट्रेडेट वीकली', 'लाइफ', 'मनोहर कहानियाँ', 'फिल्म फेयर', 'जासूस महल' आदि पत्रिकाएं देखीं। बीच-बीच में वे उस महिला को घूरते जाते थे और कोई बात कहकर जोर से हँस पड़ते थे।

"यार, लास्की भी अजीब आदमी था।" गोरे ने कहा।

"क्यों?"

"तुम तो जानते ही हो कि 'ग्रामर ऑफ पॉलिटिक्स' लिखने के पहले वह मुझसे मिलने आया था।"

"कुछ-कुछ याद आ रहा है।" सांवला महीला की ओर तिरछी दृष्टि से देखकर जोर से हँस पड़ा।

"वह एक रात को चुपके-से मेरे घर पहुँचा। गिड़गिड़ा कर बोला, जब तक आप मदद न करेंगे। मेरी किताब लिखी नहीं जायेगी। मुझे दया आ गयी कि आदमी शरीफ है और इसके लिये कुछ कर देना चाहिए। मैंने कहा- भाई, मेरे पास इतना समय तो नहीं कि तुम्हारे लिये पूरी पुस्तक लिख दूँ, हाँ, रोज मैं रात को दो घण्टे बोल दूँगा और तुम नोट कर लेना।"

"तैयार हुआ?"

"अरे, बड़ा खुश हुआ! मैंने दस दिन में ही पूरी किताब डिक्टेट करा दी। वह कहने लगा कि पुस्तक के असली लेखक आप ही हैं और उस पर आपका ही नाम जाना चाहिए, लेकिन मैंने जवाब दिया कि मैं सत्य और अहिंसा के देश का रहने वाला हूँ और मेरी सेवाएं सारा निःस्वार्थ होती हैं।"

उस महिला ने शान से गर्दन घुमा कर उनको ओर घूरती नजर से देखा। फिर वह 'ईव्स वीकली' खरीद कर उपेक्षापूर्ण भाव प्रकट करती हुई चली गई। दोनों ने जोर का ठहाका लगाया। फिर सांवला शीघ्र ही गम्भीर होकर गुनगुनाने लगा-मुझे पलकों की छाँव में रहने दो...

उन्होंने बाजर के दो और चक्कर लगाये। तब तक अँधेरा छा गया था। सभी दुकानें रंग-बिरंगी रोशनियों से जगमगा कर रहस्यमय स्वप्नलोक की तरह प्रतीत हो रही थीं। वे फिर उसी पान की दुकान पर आकार खड़े हो गये। इस बार सांवले ने सिगरेट खरीदी।

"डियर, हम काफी विदेश भ्रमण कर चुके। अब हमको प्यारे स्वदेश की भी सुध लेनी चाहिए!" गोरा जमुहाई लेकर बोला।

"हाँ। मेरी भी पवित्र आत्मा स्वदेश के लिये छटपटा रही है।"

"लेट अस गो!"

कुछ दूर चलकर वे 'द प्रिंस' में घुस गये। काउंटर पर बड़ी-बड़ी मूंछो वाला एक अधेड़ व्यक्ति अत्यधिक तटस्थ और विनम्र भाव से बैठा था। उसने झुककर उनको सलाम किया। दाहिनी ओर चार केबिन बने हुए थे। पहले में चार व्यक्ति बैठे हुए थे और जोर-जोर से बातें करके ठहाका लगा रहे थ, जिनको देखते ही वे दोनों अत्यधिक गम्भीर हो गये और उनके चेहरों पर उच्चता और उपेक्षा के भाव अंकित हो गये। वे अंतिम केबिन में जाकर बैठ गये।

"क्या लोगे?" गोरे ने पूछा।

"देश का सामाजिक और नैतिक स्तर ऊँचा करना है, ब्रांडी ही चलने दो!"

"एक अद्धा और साथ में अभी... उबले हुए अंडे।" गोरे ने आर्डर दिया।

जब बैरे ने सामान लाकर मेज पर रख दिया तो गोरे ने दो गिलासों में बराबर-बराबर मात्रा में शराब डाली। सांवले ने चुपके से अपने गिलास की कुछ शराब गोरे के गिलास में उड़ेल दी और अंत में झेंप कर हँसने लगा।

"साले! तुम कायर हो!" गोरा बिगड गया, "मैंने सोचा था कि प्राइम मिनिस्टर होने पर मैं तुमको भ्रष्टाचार-निवारण-समिति और जाति-भेद-उन्मूलन-समिति का अध्यक्ष बना दूँगा। लेकिन जब तुम इतनी पी नहीं सकते तो

अवसर आने पर घूस कैसे लोगे, जालसाजी कैसे करोगे, झूठ कैसे बोलोगे? फिर देश की सेवा क्या करोगे, खाक?"

दोनों जोर-जोर से ठहाके लगाने लगे। फिर उन्होंने सिगरेट सुलगा ली। वे शराब की चुस्की लेने के बाद अंडे खाकर कुछ देर तक अपनी नाक की सीध में महत्त्वपूर्ण और बुजुर्गाना ढंग से देखते थे और बाद में सिगरेट के गहरे कश खींचकर धुआँ छोड़ने लगते थे।

जब वे बाहर निकले तो उनके चेहरे तमतमा रहे थे। फुटपाथों पर की भीड़े हलकी पड़ गयी थीं। गोरे ने हाथ ऊँचे करके अपने शारीर को तोड़ा।

"तुम्हारी लीडरशिप का मजा न आया। आज तो कुछ रचनात्मक कार्य होना चाहिए!"

"तो तैयार हो जाओ! मैं एश चौमुखी विकास और विश्वशांति की स्थापना के लिये जो कदम उठाने जा रहा हूँ, उसमें तुम्हारे जैसे नौजवान की मदद चाहिए! अगर तुम हिम्मत से काम लोगे तो माबदौलत खुश होकर तुमको होम मिनिस्टर बना देंगे!"

"जो आज्ञा, हुजूर!"

"तो आओ, बेटा, रिक्शे पर बैठो!"

कुछ देर बाद उनका रिक्शा एक ऐसी छोटी-सी बस्ती के पास रुका, जिसमें खपरैल और फूस के पन्द्रह-बीस छोटे-छोटे मकान थे। उस बस्ती में चौका-बर्तन करने वाले कमकर, कुछ रिक्शा-चालक और इसी किस्म के मजदूर रहते थे। वह स्थान विश्वविद्यालय के लगभग एक मील दूर शहर की सीमा पर स्थित था, इसलिए दूर तक कोई अन्य बस्ती नहीं दिखाई देती थी। नुक्कड़ पर पान की एक ऐसी दुकान थी, जिसमें अन्य छोटे-मोटे सामान भी मिलते थे। झोपडियों से मद्धिम मटमैली रोशनियाँ झाँक रही थीं। रात अँधेरी थी, परन्तु मौसम बहुत सुहावना था और निःशब्द चलने वाली पवित्र, स्वच्छ और शीतल हवा शरीर और मन को पुलक से भर देती थी।

वे पहली झोपड़ी में ही घुसे। बाहर छोटे-से बरामदे में बायीं ओर दीवार से सटकर नाव की तरह गहरी एक पुरानी बंसखट पड़ी हुई थी। दाहिनी तरफ एक कोने में एक औरत चूल्हे के सामने बैठी खाना बना रही थी। वह चौंककर खड़ी हो गयी, परन्तु गोरे को तत्क्षण पहचान कर सज्जनतापुर्वक हँसने भी लगी, जिससे उसके गालों के बीच में गड्ढे पड़ गये। उसकी उम्र चौबीस-पच्चीस की होगी। रंग करीब-करीब काला, परन्तु शरीर मजबूत था और वह देखने में बुरी भी नहीं थी। वह एक मैली-कुचैली साड़ी पहने थी। और उसके आँचल की अस्त-व्यस्तता के कारण उसके उन्नत और पुष्ट उरोज दिखाई दे रहे थे। वह एक सीधी-सादी और सरल स्वाभाव की स्त्री प्रतीत होती थी।

"बहुत दिन के बाद दरसन दिया? बैठिये।"

"यहाँ बैठकर क्या होगा, जी?" गोरा हँस पड़ा।

"तो भीतर चलिये!" वह भी हँसने लगी।

"आज तुम्हारी सेवा में विश्व के एक महान नेता को लाया हूँ।"

"मुझे तो आपकी बात समझ में नहीं आती। कौन हैं ये?" उसने अदा के साथ सांवले की ओर देखा।

"ये अखिल विश्व लोफर संघ के अध्यक्ष हैं। इनको हर तरह से तुम्हें खुश करना है।"

"मेरे लिये तो सभी बराबर हैं। किसी तरह की शिकायत की बात नहीं मिलेगी।" वह फिर हँसने लगी।

"तुम्हारा दोपाया जानवर कहाँ है?"

"कहीं घास चरने गया होगा!" वह खिलखिला पड़ी।

"तो देर क्या है?"

"कुछ नहीं। दाल चुरती रहेगी।"

वह सहसा व्यस्त होकर चूल्हे के सामने बैठ गई। उसके होंठ अनजान में ही एक शिष्ट, हलकी मुस्कराहट से फैल गये थे। उसने एक लड़की निकल कर आँच धीमी कर दी, बटलोई की दाल को करछुल से चलाया और अंत में आश्वस्त होकर उठ खड़ी हुई।

गोरा बाहर बंसखट पर बैठा ऊंघता-सा रहा। थोड़ी देर बाद औरत तेजी से बाहर आयी और बटलोई को चूल्हे पर से उतार कर पुनः कोठरी में चली गई। अब बाहर बैठने की बारी सांवले की थी। इस बीच बरामदे के ताक पर रखी डिबरी कि रौशनी किसी बीमार की फीकी मुस्कुराहट की तरह टिमटिमाती रही।

"दो-दो रूपये हुए न?" बाहर निकल कर गोरे ने हँसकर पूछा।

"आज तो चार-चार लूँगी! बड़ा परेशान किया है आप लोगों ने!" वह आँखें मटका कर बोली।

"तुम तो पूँजीपति हो!तुमको किस बात की कमी है? अच्छा, आठ-आठ आना और। लेकिन दस रूपये का नोट है।"

"रुपये तो मेरे पास नहीं हैं।"

"पान वाले से भुना लेते हैं।"

"लाइए, मैं ले आती हूँ।"

"अरे, तुम देश की महान कार्यकर्त्री हो, तुम कहाँ कष्ट करोगी? अभी आते हैं।"

"अच्छी बात है।" वह हँसने लगी।

वे झोपड़ी से बाहर निकल पर पान की दुकान की ओर बढे। वह औरत बरामदे में खड़ी उनको देख रही थी।

"साले, जूते निकाल कर हाथ में ले लो!" गोरे ने दुकान के निकट पहुँच कर फुसफुसाहट के स्वर में कहा।

"क्यों?" सांवला चौंक उठा।

"मेरे आदेश का चुपचाप पालन कर। आज समय आ गया है की हमारे नवयुवक बुद्धिमानी, मौलिकता, सहस और कर्मठता से काम लें! मैं पूर्ण अहिंसात्मक तरीके से उनका पथ-प्रदर्शन करना चाहता हूँ!"

दोनों ने झटपट अपने जूते उतार कर अपने हाथों में ले लिये।

"भाग साले! आर्थिक और सामाजिक क्रांति करने का समय आ गया है!"

वे सरपट भाग चले। साथ में वह ही-ही हँसते भी जा रहे थे। वह औरत झोपड़ी से बाहर निकल आयी थी और छाती पीट-पीट कर विलाप करने लगी थी, "अरे, लूट लिया हरामी के बच्चों ने! उन पर बज्जर गिरे..."

झोपड़ियों से कुछ व्यक्ति निकल कर युवकों के पीछे दौड़े। तारकोल की सड़के जन शून्य थीं। दोनों युवक अरबी घोड़ों की तरह दौड रहे थे। वे कभी बायें घूम जाते और कभी दायें। पीछा करने वालों में से एक फुर्तीबाज व्यक्ति तीर की तरह उनकी ओर बढ़ा आ रहा था। वह समीप आता गया। अब वह समय दूर नहीं था जब वह आगे लपक कर सांवले रंग के युवक को पकड़ लेता, जो पीछे पड़ गया था। परन्तु सहसा गोरा रुक कर एक ओर खड़ा हो गया। उसने पैंट की जेब में से एक छुरा निकाल कर खोल लिया, जो उसके हाथ में चमक उठा। फिर फुर्ती से आगे बढ़कर उसने छुरा उस व्यक्ति के पेट में भोंक दिया, जो 'हाय मार डाला' कहकर लड़खड़ा कर गिर पड़ा।

इसके बाद दोनों पुनः तेजी से भाग चले। जब बिजली का खम्भा आया तो रौशनी में उनके पसीने से लथपथ ताकतवर शरीर बहुत सुंदर दिखाई देने लगे। फिर वे न मालूम किधर अँधेरे में खो गये।

❑

व्यंग्य

भारत को चाहिए जादूगर और साधु

-हरिशंकर परसाई

हर 15 अगस्त और 26 जनवरी को मैं सोचता हूँ कि साल-भर में कितने बढ़े। न सोचूँ तो भी काम चलेगा - बल्कि ज्यादा आराम से चलेगा। सोचना एक रोग है, जो इस रोग से मुक्त हैं और स्वस्थ हैं, वे धन्य हैं।

यह 26 जनवरी 1972 फिर आ गया। यह गणतंत्र दिवस है, मगर 'गण' टूट रहे हैं। हर गणतंत्र दिवस 'गण' के टूटने या नए 'गण' बनने के आंदोलन के साथ आता है। इस बार आंध्र और तेलंगाना हैं। अगले साल इसी पावन दिवस पर कोई और 'गण' संकट आएगा।

इस पूरे साल में मैंने दो चीजें देखीं। दो तरह के लोग बढ़े - जादूगर और साधु बढ़े। मेरा अंदाज था, सामान्य आदमी के जीवन के सुभीते बढ़ेंगे- मगर नहीं। बढ़े तो जादूगर और साधु-योगी। कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या ये जादूगर और साधु 'गरीबी हटाओ' प्रोग्राम के अंतर्गत ही आ रहे हैं! क्या इसमें कोई योजना है?

रोज अखबार उठाकर देखता हूँ। दो खबरें सामने आती हैं - कोई नया जादूगर और कोई नया साधु पैदा हो गया है। उसका विज्ञापन छपता है। जादूगर आँखों पर पट्टी बाँधकर स्कूटर चलाता है और 'गरीबी हटाओ' वाली जनता कामधाम छोड़कर, तीन-चार घंटे आँखों पर पट्टी बाँधे जादूगर को देखती हजारों की संख्या में सड़क के दोनों तरफ खड़ी रहती है। ये छोटे जादूगर हैं। इस देश में बड़े-बड़े जादूगर हैं, जो छब्बीस सालों से आँखों पर पट्टी बाँधे हैं। जब वे देखते हैं कि जनता अकुला रही है और कुछ करने पर उतारू है, तो वे फौरन जादू का खेल दिखाने लगते हैं। जनता देखती है, ताली पीटती है। मैं पूछता हूँ - जादूगर साहब, आँखों पर पट्टी बाँधे राजनीतिक स्कूटर पर किधर जा रहे हो? किस दिशा को जा रहे हो - समाजवाद? खुशहाली? गरीबी हटाओ? कौन सा गंतव्य है? वे कहते हैं - गंतव्य

से क्या मतलब? जनता आँखों पर पट्टी बाँधे जादूगर का खेल देखना चाहती है। हम दिखा रहे हैं। जनता को और क्या चाहिए?

जनता को सचमुच कुछ नहीं चाहिए। उसे जादू के खेल चाहिए। मुझे लगता है, ये दो छोटे-छोटे जादूगर रोज खेल दिखा रहे हैं, इन्होंने प्रेरणा इस देश के राजनेताओं से ग्रहण की होगी। जो छब्बीस सालों से जनता को जादू के खेल दिखाकर खुश रखे हैं, उन्हें तीन-चार घंटे खुश रखना क्या कठिन है। इसलिए अखबार में रोज फोटो देखता हूँ, किसी शहर में नए विकसित किसी जादूगर की।

सोचता हूँ, जिस देश में एकदम से इतने जादूगर पैदा हो जाएँ, उस जनता की अंदरूनी हालत क्या है? वह क्यों जादू से इतनी प्रभावित है? वह क्यों चमत्कार पर इतनी मुग्ध है? वह जो राशन की दुकान पर लाइन लगाती है और राशन नहीं मिलता, वह लाइन छोड़कर जादू के खेल देखने क्यों खड़ी रहती है?

मुझे लगता है, छब्बीस सालों में देश की जनता की मानसिकता ऐसी बना दी गयी है कि जादू देखो और ताली पीटो। चमत्कार देखो और खुश रहो।

बाकी काम हम पर छोड़ो।

भारत-पाक युद्ध ऐसा ही एक जादू था। जरा बड़े स्केल का जादू था, पर था जादू ही। जनता अभी तक ताली पीट रही है।

उधर राशन की दुकान पर लाइन बढ़ती जा रही है।

देशभक्त मुझे माफ करें। पर मेरा अंदाज है, जल्दी ही एक शिमला शिखर-वार्ता और होगी। भुट्टो कहेंगे - पाकिस्तान में मेरी हालत खस्ता। अलग-अलग राज्य बनना चाह रहे हैं। गरीबी बढ़ रही है। लोग भूखे मर रहे हैं।

हमारी प्रधानमंत्री कहेंगी - इधर भी गरीबी हट नहीं रही। कीमतें बढ़ती जा रही हैं। जनता में बड़ी बेचैनी है। बेकारी बढ़ती जा रही है।

तब दोनों तय करेंगे - क्यों न पंद्रह दिनों का एक और जादू हो जाए। चार-पाँच साल दोनों देशों की जनता इस जादू के असर में रहेगी। (देशभक्त माफ करें - मगर जरा सोंचें)

जब मैं इन शहरों के इन छोटे जादूगरों के करतब देखता हूँ तो कहता हूँ - बच्चों, तुमने बड़े जादू नहीं देखे। छोटे देखे हैं तो छोटे जादू ही सीखे हो।

दूसरा कमाल इस देश में साधु है। अगर जादू से नहीं मानते और राशन की दुकान पर लाइन लगातार बढ़ रही है, तो लो, साधु लो।

जैसे जादूगरों की बाढ़ आई है, वैसे ही साधुओं की बाढ़ आई है। इन दोनों में कोई सम्बन्ध जरूर है।

साधु कहता है - शरीर मिथ्या है। आत्मा को जगाओ। उसे विश्वात्मा से मिलाओ। अपने को भूलो। अपने सच्चे स्वरूप को पहचानो। तुम सत-चित-आनंद हो।

आनंद ही ब्रह्म है। राशन ब्रह्म नहीं। जिसने 'अन्नं ब्रह्म' कहा था, वह झूठा था। नौसिखिया था। अंत में वह इस निर्णय पर पहुँचा कि अन्न नहीं 'आनंद' ही ब्रह्म है।

पर भरे पेट और खाली पेट का आनंद क्या एक सा है? नहीं है तो ब्रह्म एक नहीं अनेक हुए। यह शास्त्रोक्त भी है - 'एको ब्रह्म बहुस्याम।' ब्रह्म एक है पर वह कई हो जाता है। एक ब्रह्म ठाठ से रहता है, दूसरा राशन की दुकान में लाइन से खड़ा रहता है, तीसरा रेलवे के पुल के नीचे सोता है।

सब ब्रह्म ही ब्रह्म है।

शक्कर में पानी डालकर जो उसे वजनदार बनाकर बेचता है, वह भी ब्रह्म है और जो उसे मजबूरी में खरीदता है, वह भी ब्रह्म है।

ब्रह्म, ब्रह्म को धोखा दे रहा है।

साधु का यही कर्म है कि मनुष्य को ब्रह्म की तरफ ले जाय और पैसे इकट्ठे करे; क्योंकि 'ब्रह्म सत्यं जगतमिथ्या।'

26 जनवरी आते आते मैं यही सोच रहा हूँ कि 'हटाओ गरीबी' के नारे को, हटाओ महँगाई को, हटाओ बेकारी को, हटाओ भुखमरी को, क्या हुआ?

बस, दो तरह के लोग बहुतायत से पैदा करें - जादूगर और साधु।

ये इस देश की जनता को कई शताब्दी तक प्रसन्न रखेंगे और ईश्वर के पास पहुँचा देंगे।

भारत-भाग्य विधाता। हममें वह क्षमता दे कि हम तरह-तरह के जादूगर और साधु इस देश में लगातार बढ़ाते जाएँ।

हमें इससे क्या मतलब कि 'तर्क की धारा सूखे मरूस्थल की रेत में न छिपे'(रवींद्रनाथ) वह तो छिप गई। इसलिए जन-गण-मन अधिनायक! बस हमें जादूगर और पेशेवर साधु चाहिए। तभी तुम्हारा यह सपना सच होगा कि हे परमपिता, उस स्वर्ग में मेरा यह देश जाग्रत हो। (जिसमें जादूगर और साधु जनता को खुश रखें)।

यह हो रहा है, परमपिता की कृपा से!

❑

साहित्य

एदुआर्दो गालेआनो की पुस्तक लातिन अमरीका के रिसते जख्म की प्रस्तावना

-इसाबेल अलेंदे

वर्षों पहले, जब मैं युवा थी और विश्वास करती थी कि दुनिया को बेहतरीन आकांक्षाओं और आशाओं के अनुरूप ढाला जा सकता है, उसी दौरान किसी ने मुझे पीले कवर की एक किताब पढ़ने के लिए दी थी- लातिन अमरीका के रिसते जख्म, लेखक- एदुआर्दो गालेआनो। मैंने भावनाओं की उमंग में डूब कर उसे दो ही दिन में खत्म कर दिया, लेकिन उसे पूरी तरह समझने के लिए मुझे उसे दो बार फिर पढ़ना पड़ा।

1970 के दशक की शुरूआत में चिली उस प्रचंड तूफान से घिरे समुद्र में फँसा एक छोटा सा द्वीप था, इतिहास ने नक्शे पर एक बीमार दिल जैसे दिखनेवाले लातिन अमरीकी महाद्वीप को जिसमें धकेल दिया था। हम साल्वाडोर अलेंदे की समाजवादी सरकार के दौर से गुजर रहे थे, लोकतांत्रिक चुनावों के जरिये राष्ट्रपति बनने वाले पहले मार्क्सवादी, एक ऐसे व्यक्ति जिनके पास समता और स्वाधीनता का सपना था और उस सपने को हकीकत में बदलने का जोश था। तभी पीले कवर की उस किताब ने, यह साबित किया था कि हमारे क्षेत्र में कोई भी सुरक्षित द्वीप नहीं, हम सभी शोषण और उपनिवेशीकरण के 500 वर्षों के साझीदार थे, हम सभी एक ही समान नियति से बंधे हुए थे, हम सभी उत्पीड़ितों की एक ही प्रजाति से सम्बन्ध रखते थे। अगर मैं इस किताब के वास्तविक अर्थ को समझने में सक्षम होती, तो मैं यह निष्कर्ष निकाल सकती थी कि साल्वाडोर अलेंदे की सरकार शुरूआत से ही अभिशप्त थी। यह शीत युद्ध का काल था और अमरीका, हेनरी किसिंजेर के शब्दों में "अपने घर के पिछवाड़े" एक वामपंथी प्रयोग को सफल नहीं होने दे सकता था। क्यूबा की क्रांति ही काफी थी; कोई अन्य समाजवादी प्रयोग सहन नहीं किया जा सकता था, चाहे वह लोकतांत्रिक चुनाव का ही नतीजा क्यों न हो। 11 सितम्बर, 1973 को एक सैन्य तख्तापलट ने चिली में लोकतांत्रिक परम्परा की एक सदी का अंत कर दिया और जनरल औगुस्तो पिनोचे के लम्बे शासन काल की शुरूआत की। इसी तरह के तख्तापलट दूसरे देशों में भी हुए और शीघ्र ही इस महाद्वीप की आधी से अधिक जनता आतंक के साये में जी रही थी। यह वाशिंगटन में तैयार की गयी तथा दक्षिणपंथियों की आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के बल पर लातिन अमरीकी जनता के ऊपर थोपी गयी रणनीति थी। हर अवसर पर सेना ने विशेषाधिकार सम्पन्न सत्ताधारी गुटों के लिए भाड़े के सैनिकों की तरह काम किया। बड़े पैमाने पर दमन को संगठित किया गया; यातना, नजरबंदी कैंप, सेंसरशिप, बिना मुकदमे के कारावास और बिना मुकदमे के मौत की सजा रोजमर्रे की घटनाएँ थीं। हजारों लोग "गायब हो गये", जान बचाने के लिए भारी तादाद में निर्वासित लोगों और शरणार्थियों ने अपना देश छोड़ दिया। इस महाद्वीप ने जिन पुराने जख्मों को बर्दाश्त किया था और जो अभी भरे भी नहीं थे, उनमें नये-नये जख्म और शामिल होते गये। इसी राजनीतिक पृष्ठभूमि में, दक्षिण अमरीका के रिसते जख्म प्रकाशित हुई। इस किताब ने रातोंरात एदुआर्दो गालेआनो को मशहूर कर दिया, हालाँकि वह पहले ही उरूग्वे के एक जाने-माने राजनीतिक पत्रकार थे।

अपने सभी देशवासियों की तरह एदुआर्दो भी एक फुटबाल खिलाड़ी बनना चाहते थे। वह एक संत भी बनना चाहते थे, लेकिन जैसा कि बाद में हुआ, उन्होंने ढेर सारे पाप किये, उन्होंने एक बार इसे कबूल भी किया। "मैंने कभी किसी का कत्ल नहीं किया, यह सच है, लेकिन महज इसलिए क्योंकि मेरे पास साहस और समय की कमी थी, इसलिए नहीं कि मुझमें इच्छा की कमी थी।" वह एक राजनीतिक पत्रिका *मार्चा* के लिए काम करते थे, अठाईस साल की उम्र में वे उरूग्वे के एक महत्त्वपूर्ण अखबार *एपोचा* के प्रबंधक बन गये। उन्होंने दक्षिणी अमरीका के रिसते जख्म को, 1970 की आखिरी नब्बे रातों, यानी तीन महीने में लिखा, जबकि दिन के समय वे विश्वविद्यालय में किताबों, पत्रिकाओं

और सूचनापत्रों का संपादन किया करते थे।

यह उरूग्वे का बहुत बुरा दौर था। हवाईजहाज और पानी के जहाज नौजवान लोगों से भर कर रवाना होते थे, जो अपने देश की गरीबी और घटिया जीवन-स्तर से बचकर भाग रहे होते थे, जिसने उन्हें बीस साल की उम्र में ही बूढ़ा बना दिया था, और जहाँ मांस और ऊन से ज्यादा हिंसा की फसल उगती थी। एक सदी तक चलने वाले एक ग्रहण के बाद सेना ने तुपामारो गुरिल्लाओं से लड़ने के बहाने इस परिदृश्य पर हमला बोल दिया। उन्होंने आजादी की बलि चढ़ा दी और शासन के रहे-सहे अधिकारों को भी छीन लिया, जो पहले ही नाममात्र का नागरिक समाज रह गया था।

1973 के मध्य में सैन्य तख्तापलट हुआ, उन्हें जेल में डाल दिया गया और उसके कुछ समय बाद ही वे अर्जेंटीना प्रवास पर चले गये, जहाँ उन्होंने *क्राइसिस* पत्रिका शुरू की। लेकिन 1976 में अर्जेंटीना में भी सैनिक तख्तापलट हो गया तथा बुद्धिजीवियों, वामपंथियों, पत्रकारों और कलाकारों के खिलाफ "कुत्सित लड़ाई" शुरू हो गयी। गालेआनो एक बार फिर प्रवास पर चले गये, इस बार वे अपनी पत्नी हेलेना विल्लाग्र के साथ स्पेन चले गये। स्पेन में उन्होंने संस्मरण पर एक खूबसूरत किताब, *डेज एंड नाईटस् ऑफ लव एंड वार* लिखी, और उसके कुछ समय बाद उन्होंने अमरीका की आत्मा के साथ एक वार्तालाप-सा शुरू किया; *मेमोरिज ऑफ फायर*, दक्षिणी अमरीका के पूर्व-कोलम्बियाई युग से आधुनिक समय तक के इतिहास का एक विराट भितिचित्र। "मैंने ऐसी कल्पना की कि अमरीका एक औरत है और वह मेरे कानों में अपने गुप्त किस्से कह रही है, प्यार और हिंसा के वे कृत्य जिन्होंने उसका निर्माण किया।" उन्होंने हाथ से लिखते हुए, आठ साल तक इन खण्डों पर काम किया। "मैं समय बचाने में विशेष रुचि नहीं रखता, मैं उसका आनंद लेना पसन्द करता हूँ।" अंततः 1985 में, जब एक जनमत संग्रह ने उरूग्वे में सैनिक तानाशाही को पराजित कर दिया, तब गालेआनो अपने देश वापस लौट सके। उनका प्रवास ग्यारह साल तक चला, लेकिन उन्होंने खामोश रहना या अदृश्य रहना नहीं सीखा था; जैसे ही उन्होंने मोंटेवीडियो में कदम रखा, वे उस कमजोर लोकतंत्र को जो सैनिक सरकार की जगह कायम हुआ था, मजबूत बनाने में जुट गये। उन्होंने अधिकारी वर्ग का विरोध करना लगातार जारी रखा और तानाशाही के अपराधों की भर्तस्ना करने के लिए अपने जीवन को भी खतरे में डाला।

एदुआर्दो गालेआनो के कई कथा-साहित्य और कविताओं के संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं; वे अनगिनत लेखों, साक्षात्कारों और व्याख्यानों के लेखक हैं; उन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा और राजनीतिक सक्रियता के लिए बहुत से पुरस्कार, मानद उपाधियाँ और सम्मान हासिल किये हैं। वे लातिन अमरीका के, जो अपने महान साहित्यिक नामों के लिए जाना जाता है, सबसे दिलचस्प लेखकों में से एक हैं। उनका लेखन सतर्क विवरण, राजनीतिक मत, काव्यात्मक शैली और बेहतरीन किस्सागोई के लिए जाना जाता है। वह गरीबों और उत्पीडितों की, और साथ ही नेताओं और बुद्धिजीवियों की आवाज सुनने के लिए लातिन अमरीका के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमे। वे अमरीका के मूलनिवासियों, किसानों, गुरिल्लाओं, सैनिकों, कलाकारों और अपराधियों के साथ रहे; उन्होंने राष्ट्रपतियों, अत्याचारियों, शहीदों, नायकों, डाकुओं, निराश माताओं और बीमार वेश्याओं से बातचीत की। उन्होंने तेज ज्वर सहे, वे जंगलों में पैदल चले और एक बार जबरदस्त दिल के दौरे से बाल-बाल बचे; उन्हें दमनकारी शासन और कट्टर आतंकवादियों ने प्रताड़ित किया। मानव अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने अकल्पनीय जोखिम उठाते हुए सैन्य तानाशाही और हर प्रकार की क्रूरता और शोषण का विरोध किया। लातिन अमरीका के बारे में उनका प्रत्यक्ष ज्ञान मेरी जानकारी में किसी भी अन्य व्यक्ति से कहीं ज्यादा है और वे इसका इस्तेमाल पूरी दुनिया को अपनी जनता के सपनों और भ्रमों, आशाओं और असफलताओं को बताने के लिए करते हैं। वे लेखन प्रतिभा, दयालु हृदय और सुलभ मनोविनोद से भरपूर एक जांबाज हैं। "हम एक ऐसी दुनिया में रहते हैं जो जिन्दा लोगों के बजाय मृत लोगों से अच्छा व्यवहार करती है। हम जो जिन्दा हैं, वे सवाल करते हैं और जवाब देते हैं, और हमारे अंदर और भी बहुत से अक्षम्य दोष हैं, उस व्यवस्था की निगाह में जो मानती है कि पैसे की तरह ही मौत भी जनता की जिन्दगी को बेहतर बनाती है।"

किस्सागोई में उनकी निपुणता और साथ ही दूसरी सभी प्रतिभाएँ, उनकी पहली किताब दक्षिणी अमरीका के रिसते जख्म में स्पष्ट दिखाई देती हैं। मैं एदुआर्दो गालेआनो को व्यक्तिगत रूप से जानती हूँ; वे बिना किसी सचेत प्रयास के,

अनिश्चितकाल तक कहानियों की कभी न खत्म होने वाली कड़ियाँ पिरो सकते हैं। एक बार हम क्यूबा के समुद्रतट के पास एक होटल में थे, जहाँ यातायात का कोई साधन नहीं था और कमरा भी वातानुकूलित नहीं था। कई दिनों तक पीना कोलाडा (रम, नारियल की मलाई और अन्नानास के जूस को मिलाकर बनाया गया एक पेय पदार्थ -अनुवादक) की चुस्की लेते हुए वे अपनी अदभुत कहानियों से मेरा मनोरंजन करते रहे। किस्सागोई की यह अलौकिक प्रतिभा दक्षिणी अमरीका के रिसते जख्म को पठनीय बनाती है- जैसा कि एक बार उन्होंने कहा था- समुद्री डाकुओं के बारे में एक उपन्यास, उन लोगों के लिए भी रुचिकर है जो आर्थिक-राजनीतिक मामलों में विशेष जानकारी नहीं रखते हैं। किताब किसी अफसाने की तरह एक लय में आगे बढ़ती है; इसे बिना पूरा खत्म किये रख देना सम्भव नहीं है। उनके तर्क, उनका क्रोध और उनका जोश अभिभूत कर देने वाला नहीं हो पाता, अगर यह सब इतनी शानदार शैली में, इतने कुशल समयानुपात और कौतुहल के साथ व्यक्त न किया गया होता। गालेआनो शोषण की अनम्य प्रचंडता के साथ भर्त्सना करते हैं, फिर भी यह किताब एक सबसे निकृष्टतम लूट के दौर में लोगों की एकजुटता और जिजीविषा को काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत करती है। गालेआनो की किस्सागोई में एक रहस्यमयी क्षमता है। पाठक को पढ़ने के लिए उकसाने और उसे अंत तक लगातार पढ़ते रहने पर राजी करने के लिए वे अपने इस कौशल का जामकर इस्तेमाल करते हैं और पाठक के दिमाग के निजी कोने में घुसपैठ करके उसे अपनी रचना के आकर्षण और अपने आदर्शों की ताकत के सामने समर्पण के लिए मजबूर कर देते हैं।

अपनी पुस्तक *बुक ऑफ एम्ब्रासेज* में, एदुआर्दो ने एक कहानी कही है जो मुझे बेहद पसंद है। मेरे लिए यह आम तौर पर लेखन का, और खास तौर पर खुद उनके लेखन का एक शानदार रूपक है।

> एक बूढ़ा और अकेला आदमी था जिसने अपना अधिकांश समय बिस्तर पर ही बिताया। उसके बारे में अफवाह थी कि उसने अपने घर में एक खजाना छुपा रखा है। एक दिन कुछ चोर उसके घर में घुस गये। उन्होंने हर तरफ तलाश किया और उन्हें तहखाने में एक संदूक मिला। वे उसे उठाकर ले गये और जब उन्होंने उसे खोला तो पाया कि वह चिट्ठियों से भरा हुआ था। वे प्रेमपत्र थे जो उस बूढ़े आदमी को अपने पूरे जीवन में प्राप्त हुए थे। चोर उन पत्रों को जलाने वाले थे, लेकिन उन्होंने इस बारे में बात की और आखिरकार उन्हें वापस करने का फैसला लिया। एक-एक करके। हर हफ्ते एक पत्र। उसके बाद हर सोमवार की दोपहर वह बूढ़ा आदमी डाकिये के आने की प्रतीक्षा करता। जैसे ही वह उसे आते देखता, वह दौड़ना शुरू कर देता और डाकिया, जिसे सब कुछ पता था, अपने हाथ से एक चिठ्ठी उसकी तरफ बढ़ा देता। और संत पीटर भी, एक औरत का सन्देश पाकर खुशी से धड़कते उसके दिल की आवाज सुन सकते थे।

क्या यह साहित्य का दिलचस्प नमूना नहीं है? एक घटना जिसे काव्यमय सत्य से रूपांतरित किया गया है। लेखक उन्हीं चोरों की तरह होते हैं, वे कुछ ऐसी चीज लेते हैं जो वास्तविक होती है, जैसे की चिट्ठियाँ, और उसे जादू की तरकीब से एक ऐसी चीज में तब्दील कर देते हैं जो एकदम ताजा हो। गालेआनो की कहानी में चिट्ठियाँ पहले से अस्तित्व में हैं और वे सबसे पहले उस बूढ़े आदमी की हैं, परन्तु वह एक अंधेरे तहखाने में बिना पढ़े ही पड़ी हुई हैं, वे मृतप्राय हैं। उन्हें एक-एक करके डाक से वापस भेजने की साधारण-सी तरकीब से उन चोरों ने चिट्ठियों को एक नया जीवन और उस बूढ़े आदमी को एक नया भ्रम दे दिया। मेरे लिए गालेआनो के लेखन में यह प्रशंसनीय है : छुपे हुए खजानों को ढूँढ निकलना, भूली-बिसरी घटनाओं को नयी जीवंतता प्रदान करना, और अपने उग्र जोश के जरिये थकी हुई आत्माओं में नयी जान डाल देना।

चीजें जैसी दिखायी देती हैं उससे आगे बढ़कर, लातिन अमरीका के रिसते जख्म उनकी छानबीन का निमंत्रण देती है। इस तरह की महान साहित्यिक रचनाएँ लोगों की चेतना को झकझोरती हैं, उन्हें एकजुट करती हैं, व्याख्या करती हैं, समझाती हैं, भर्त्सना करती हैं और उन्हें परिवर्तन के लिए उकसाती हैं। एदुआर्दो गालेआनो का एक और पक्ष है जो मुझे बेहद आकर्षित करता है। यह व्यक्ति जिसे इतनी ज्यादा जानकारी है और जिसने सूत्रों और संकेतों का अध्ययन करके जिस तरह की भविष्यवाणी का बोध विकसित किया है, वह आशावादी है। *मेमोरीज ऑफ फायर* के तीसरे खण्ड, *सेंचुरी ऑफ विंड* में 600 पेज तक लातिन अमरीका के लोगों के साथ किये गये नरसंहार, क्रूरता, दुर्व्यवहार, और

शोषण को साबित करने के बाद तथा वह सबकुछ जो चुरा लिया गया है और जिसका चुराया जाना निरंतर जारी है, इसका धैर्यपूर्वक वर्णन करने के बाद अंत में, वे लिखते हैं-

> जीवन का वृक्ष जानता है कि चाहे कुछ भी हो जाय, उसके इर्दगिर्द नाचने वाला जोशीला संगीत कभी नहीं थमता। कितनी ही मौत क्यों न आये, कितना ही खून क्यों न बह जाये, यह संगीत आदमियों और औरतों को नृत्य कराता रहेगा तब तक जब तक हवा उनकी सांस चलाती रहेगी, खेत जुतते रहेंगे और उन्हें प्यार करते रहेंगे।

उम्मीद की यह किरण ही है जो मुझे गालेआनो के लेखन में सबसे ज्यादा प्रेरणास्पद लगती है। इस महाद्वीप में फैले हुए हजारों शरणार्थीयों की तरह, मुझे भी 1973 के सैन्य तख्तापलट के बाद अपना देश छोड़कर जाना पड़ा। मैं अपने साथ कुछ ज्यादा नहीं ले सकी- कुछ कपड़े, पारिवारिक चित्र, एक छोटे से बैग में अपने आँगन की थोड़ी सी मिट्टी, और दो किताबें- पाब्लो नेरूदा की *ओडेस* का एक पुराना संस्करण और पीली कवर वाली किताब *दक्षिणी अमरीका के रिसते जख्म*। बीस साल से ज्यादा बीतने के बाद वह किताब आज भी मेरे पास है। इसीलिए मैं इस किताब की प्रस्तावना लिखने और एदुआर्दो गालेआनो को स्वतंत्रता के प्रति उनके आश्चर्यजनक प्रेम के लिए तथा एक लेखक और दक्षिणी अमरीका के नागरिक के तौर पर मेरी जागरूकता में योगदान के लिए सार्वजानिक रूप से धन्यवाद देने से खुद को रोंक नहीं पायी। जैसा कि उन्होंने एक बार कहा था- "उन चीजों के लिए मरना उचित है जिनके बगैर जीना उचित नहीं।"

(एदुआर्दो गालेआनो की विश्वप्रसिद्ध पुस्तक ओपन वेन्स ऑफ लातिन अमरीका का हिन्दी अनुवाद जल्दी ही गार्गी प्रकाशन से छपने वाला है। यहाँ उसका प्राक्कथन दिया जा रहा है।अनुवाद- दिनेश पोसवाल)

❑

कोरे शब्द नहीं ला सकते परिवर्तन

कोरे शब्द नहीं ला सकते परिवर्तन...
व्यर्थ है भाषण नहीं है जब तक उसमें अंतर्मन।
श्रोता के मन में पैठना चाहिए तुम्हारा कथन,
अनुभूत होना चाहिए वह उल्लास
जो है तुम्हारे भीतर, तुम्हारे पास।
तुम जैसे विद्वान् करते हैं जोड़-तोड़
बासी विचारों में लगाते हैं पैबन्द फूहड़।
राख को फूँक मार-मार कर
उकसा पाते हैं बस मरी-मरी सी ज्वाला।
बच्चों पर, बंदरों पर,
जमाने को रौब काफी है कोरा भाषण।
पत्थर हो मन, बाँझ हो विचार
तो कैसे होगा मन से मन तक संवाद का संचार?

...पुरातन ज्ञान के पुनर्जीवन के प्रयास
कुछ भी नहीं हैं, हैं बस कल्पना के अभ्यास।
हमारे पास होता है कल्पना का दर्पण।
उसमें हम करते हैं निज भावना का दर्शन।
गहरे झांकोगे तो पाओगे अंधकार।
जानते हो क्या दे सकता है हमें पुरातन ज्ञान का दर्शन?
पलायन, केवल पलायन।
कुछ भी नहीं है प्राचीन,
बस, कूड़े करकट का ढेर, कबाड़ का कुठियार,
चुभती शूक्तियों कहावतों का अम्बार
जिनसे शोभित हो सकते हैं केवल
कठपुतलियों के खेल।

...खोजना है तो खोजो सत्य और निष्ठा।
बेकार है टीमटाम, दिखावा, आकर्षक लबादा।
लोगों तक पहुँचाना चाहते हो बात
तो खोजो मत शब्द
खोजो सही भाव, तर्कसंगत विचार।
बात में दम हो, तर्क हो सुसंगत,
तो कलाहीन भाषण भी होता है स्वीकार।

(गोएठे के त्रासदी नाटक फाउस्ट से
अनुवाद : अरविन्द कुमार)

रूस की चिट्ठी

–रविन्द्र नाथ टेगोर

(अब से लगभग 80 साल पहले रविन्द्र नाथ टेगोर रूस गये थे (1931) जब वहाँ स्टालिन के नेतृत्व में एक नये समाजवादी समाज का निर्माण हो रहा था। रविन्द्र नाथ को कम्युनिस्ट तो कौन कहे वामपंथी भी नहीं थे। रूस से लिखी इन चिट्ठियों में से एक संवेदनशील पर्यवेक्षक के उद्वेलन को अभिव्यक्ति मिली है। पुस्तक रूप में प्रकाशित इन चिट्ठियों का एक अंश प्रस्तुत है।)

हमेशा से देखा गया है कि मनुष्य की सभ्यता में अप्रसिद्ध लोगों का एक ऐसा दल होता है, जिनकी संख्या तो अधिक होती है, फिर भी वे ही वाहन होते हैं। उन्हें मनुष्य बनने का अवकाश नहीं, देश के जूठन पर वे पलते हैं। वे सबसे कम खाकर, सबसे कम पहनकर, सबसे कम सीख कर अन्य सबों की सेवा या गुलामी करते हैं, सबसे अधिक उन्हीं का परिश्रम होता है, सबसे अधिक उन्हीं का असम्मान होता है। बात-बात पर वे भूखों मरते हैं, ऊपर वालों की लातें खाते हैं- जीवन यात्रा के लिए जितनी भी सुविधाएँ और मौके हैं, उन सबसे वे वंचित रहते हैं। वे सभ्यता के दीवट हैं सिर पर दिया लिये खड़े रहते हैं, ऊपर वालों को सबको उजाला मिलता है और उन बेचारों के ऊपर से तेल ढलकता रहता है।

मैंने इनके बारे में बहुत दिनों से बहुत सोचा है, मालूम हुआ कि इसका कोई उपाय नहीं। जब एक समूह नीचे नहीं रहेगा, तो दूसरा समूह ऊपर रह ही नहीं सकता, और ऊपर रहने कि आवश्यकता है ही। ऊपर न रहा जाय तो बिलकुल नजदीक की सीमा के बाहर का कुछ दिखाई नहीं देता- मनुष्यता सिर्फ जीविका-निर्वाह करने के लिए ही नहीं है। एकांत जीविका को अतिक्रम करके आगे बड़े, तभी उसकी सभ्यता है। सभ्यता की उत्कृष्ट फसल तो अवकाश के खेत में पैदा होती है। मनुष्य की सभ्यता में एक जगह अवकाश की रक्षा करने कि जरूरत तो है ही। इसीलिए सोचा करता था कि जो मनुष्य सिर्फ अवस्था के कारण ही नहीं, बल्कि शरीर और मन की गति के कारण नीचे रहकर काम करने को मजबूर हैं गर और उसी काम के योग्य हैं, जहाँ तक सम्भव हो, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य, सुख और सुविधा के लिए उद्योग करना चाहिए।

मुश्किल तो यह है कि दया के वश कोई स्थायी चीज नहीं बनायी जा सकती। बाहर से उपकार करना चाहें तो पद-पद पर उसमें विकार उत्पन्न होते रहते हैं। समान बन सकें तभी सत्य सहायक हो सकता है। कुछ भी हो, मैं अच्छी तरह सोच नहीं सका हूँ फिर भी इस बात को मान लेने में कि अधिकांश मनुष्यों को नीचे रखकर, उन्हें अमानुष बनाये रखकर ही सभ्यता ऊँची रह सकती है, हमारा मन धिक्कारों से भर जाता है।

जरा सोचो तो सही, भूखे भारत के अन्न से इग्लैण्ड परिपुष्ट हुआ है। इग्लैण्ड के अधिकांश लोगों के मन का भाव यह है कि इग्लैण्ड का चिरकाल पोषण करने में ही भारत की सार्थकता है। इग्लैण्ड बड़ा होकर मानव-समाज में बड़ा काम कर रहा है और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए हमेशा के लिए एक राष्ट्र को दासता में बाँध रखने में कोई बुराई नहीं, यह राष्ट्र अगर कम खाता है, कम पहनता है, तो उससे क्या बनता-बिगड़ता है, फिर भी कृपा करके उनकी अवस्था की कुछ उन्नति करनी चाहिए, यह बात उनके मन में बैठ गयी है। परन्तु एक सौ वर्ष हो चुके, न तो शिक्षा ही मिली, न स्वास्थ्य ही मिला और न सम्पदा ही देखी।

प्रत्येक समाज अपने अंदर इसी एक बात का अनुभव करता है। मनुष्य जिस मनुष्य का सम्मान नहीं कर सकता, उस मनुष्य का उपकार करने में असमर्थ है। और कहीं नहीं, जब अपने स्वार्थ पर आकर ठेस लगती है तभी मार-काट शुरू हो जाती है, रूस में एकदम जड़ से लेकर इस समस्या को हल करने की कोशिश की जा रही है। उसका अंतिम परिणाम क्या होगा, इस बात पर विचार करने का समय अभी नहीं आया, मगर फिलहाल जो कुछ आँखों के सामने से गुजर रहा है, उसे देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। हमारी सम्पूर्ण समस्याओं का सबसे बड़ा रास्ता है शिक्षा। अभी तक समाज के अधिकांश लोग शिक्षा की पूर्ण सुविधा से वंचित हैं- और भारत वर्ष तो लगभग पूरी तरह ही वंचित है।

यहाँ, रूस में, वही शिक्षा ऐसे आश्चर्यजनक उद्यम के साथ समाज में सर्वत्र व्याप्त होती जा रही है कि जिसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। शिक्षा की तौल सिर्फ संख्या से नहीं हो सकती, वह तो अपनी सम्पूर्णता से, अपनी प्रबलता से ही तौली जा सकती है। कोई भी आदमी निःसहाय और बेकार न रहने पाये, इसके लिये कैसा विराट आयोजन और कैसा विशाल

उद्यम हो रहा है। केवल गोरे रूस के लिए ही नहीं, मध्य-एशिया की अर्द्ध-सभ्य जातियों में भी ये बाढ़ की तरह शिक्षा विस्तार करते हुए आगे बढ़ रहे हैं, जिससे साईंस की अंतिम फसल तक उन्हें मिले, इसके लिये इतने प्रयत्न हो रहे हैं, जिनका अंत नहीं। यहाँ थियेटर के अभिनयों में बड़ी जबरदस्त भीड़ होती है, मगर देखने वाले कौन हैं किसान और मजूर। कहीं भी इनका अपमान नहीं। इसी अरसे में दो एक संस्थाएँ भी देखीं और सर्वत्र ही मैंने इनमें हृदय का जागरण और आत्म-सम्मान का आनंद पाया। हमारे देश के सर्वसाधारण की तो बात ही छोड़ दो- इग्लैण्ड के मजूर-समाज के साथ तुलना करने से जमीन-आसमान का फर्क नजर आता है। हम श्री निकेतन में जो काम करना चाहते हैं, ये लोग देश भर में अच्छी तरह उस काम को पूरा कर रहे हैं। हमारे कार्यकर्ता अगर यहाँ आकर कुछ सीख जा सकते, तो बड़ा भारी उपकार होता। रोजमर्रा मैं हिंदुस्तान के साथ यहाँ की तुलना करता हूँ और सोचता हूँ क्या हुआ और क्या हो सकता था। मेरे अमरीकन साथी डॉक्टर हैरी टिम्बर्स यहाँ की स्वास्थ्य व्यवस्था की चर्चा करते हैं, उनकी कार्य पद्धति देखने से आँखें खुल जाती हैं, और कहाँ पड़ा है रोग-संतप्त, भूखा, अभागा, निरुपाय भारतवर्ष! कुछ पहले भारत की अवस्था के साथ यहाँ की साधारण जनता की दशा की बिलकुल समानता थी- इस छोटे समय में बड़ी तेजी के साथ उसमें कैसा परिवर्तन हुआ है! और हम अभी तक जड़ता के कीचड़ में ही डूबे पड़े हैं।

मास्को

स्थान रूस। दृश्य, मास्को की उपनगरी का एक प्रासाद भवन। जंगल में से देख रहा हूँ दिगंत तक फैली हुई अरण्यभूमि, सब्ज रंग की लहरें उठ रही हैं, कहीं स्याह सब्ज, कहीं फीका बैगनीं मिला सब्ज, कहीं पीलिया सब्ज- हिलोरें सी नजर आ रही हैं। वन की सीमा पर बहुत दूर की गाँव की झोंपडियाँ नजर आ रही हैं। दिन के करीब दस बजे हैं, आकाश में बादल पर बादल धीमी चाल से चले जा रहे हैं, बिना वर्षा का समारोह है, सीधे खड़े पॉपलर वृक्षों की चोटियाँ हवा से नशे में झूम सी रही हैं।

मास्को में कई दिन तक जिस होटल में था, उसका नाम है- ग्रैंड होटल। बड़ी भारी इमारत है, पर हालत अत्यन्त दरिद्र, मानो धनाढ्य का लड़का दिवालिया हो गया हो। पुराने जमाने का असबाब है कुछ बिक चुका है, कुछ फट-उट गया है, जोड़ने और थेगरा लगाने लायक सामर्थ्य नहीं है, मैले-कुचैले कपड़े हैं, धोबी से सम्बन्ध नहीं। सारे शहर-भर की यही हालत है, अत्यंत अपरिछिन्नता के भीतर से भी नवाबी जमाने का चेहरा दिखाई दे रहा है, जैसे फटे कुर्ते में सोने के बटन लगे हों, जैसे ढाके की धोती में रफू दूर से चमक रहा हो। आहार-व्यवहार में एसी सर्वव्यापी निर्धनता यूरोप में और कहीं भी देखने में नहीं आती। इसका मुख्य कारण यह है कि सब जगह धनी निर्धन का भेद होने से धन का पूँजीभूत रूप सबसे ज्यादा बड़ा होकर निगाह के सामने पड़ता है- वहाँ दरिद्र रहता है यवनिका के पीछे नेपथ्य में, जहाँ सब कुछ बेसिलसिले का, बिखरा हुआ, गन्दा अस्वास्थ्य है, जहाँ दुर्दशा और चेकारी के घोर अंधकार के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता। परन्तु बाहर से आये हुए हम जहाँ आकर टिकते हैं, वहाँ के जंगले से जो कुछ दिखायी देता है, हमें सब सुभद्र, सुशोभन और प्रस्पुष्ट ही दिखाई देता है। यह समृद्धि यदि समान रूप से बाँट दी जाती, तो उसी से पता लग जाता कि देश में धन ऐसा कुछ ज्यादा नहीं है, जिससे सबको खाने-पहनने को काफी तौर से जुटता। यहाँ भेद न होने से ही धन का चेहरा बिगड़ गया है; और दीनता में भी कुरूपता नहीं है, अकिंचनता है। देश भर में फैला हुआ ऐसा अधन और कहीं देखा नहीं, इसी से सबसे पहले हमारी दृष्टि उसी पर पड़ती है। अन्य देशों में जिन्हें हम सर्वसाधारण समझते हैं यहाँ केवल वे ही रहते हैं।

मास्को की सड़क पर सब तरह के आदमी चल-फिर रहे हैं। किसी में शान-शौकत नहीं, कोई फिट-फाट नहीं। देखने से मालूम होता है कि मानो अवकाश भोगी समाज यहाँ से सदा के लिए विदा हो गया है। सभी कोई अपने हाथ पैरों से काम-धँधा करके जिंदगी बिताते हैं, बाबूगिरी की पालिश कहीं है ही नहीं। डॉ। पेट्रोव नामक एक सज्जन के घर जाने का काम पड़ा। वे यहाँ के एक प्रतिष्ठित आदमी हैं, ऊँचे ओहदेदार। जिस मकान में उनका दफ्तर है वह पहले एक रईस का मकान था, पर घर में असबाव बहुत ही कम और सजावट की तो बू तक नहीं- बिना कार्पेट के फर्श पर एक कोने में मामूली सी एक टेबल है। संक्षेप में पितृ वियोग में नाई-धोबी-वर्जित अशौच-दशा जैसा रुखा-रुखा भाव है- जैसे बाहर वालों के सामने सामाजिकता की रक्षा करने की उनको कोई गरज ही नहीं। मेरे यहाँ जो खाने-पीने की व्यवस्था थी वह ग्रैंड होटल नामधारी पंथावास के लिए बहुत ही असंगत थी। परन्तु इसके लिये कोई संकोच नहीं, क्योंकि सभी की एक सी दशा है।

मुझे अपने बचपन की याद आती है। तब की जीवन यात्रा और उसका आयोजन अब की तुलना में कितना तुच्छ

था, परन्तु उसके लिये हममें से किसी के मन में जरा सा भी संकोच नहीं था। कारण, तब के संसार-यात्रा के बहुत ऊँच-नीच का भाव नहीं था- सभी के घर में एक मामूली-सा चाल-चलन था- फर्क था सिर्फ पांडित्य का, यानी गाने-बजाने, लिखने-पड़ने आदि का। इसके सिवा लौकिक रीति में पार्थक्य था, अर्थात भाषा, भाव-भंगी और आचार-विचारगत विशेषताएँ थीं। परन्तु तब जैसा हमारा आचार-विचार था और उपकरण आदि जिस ढंग के थे, उन्हें देखकर तो आजकल के मध्यम श्रेणी के लोग भी अवज्ञा कर सकते थे।

आर्थिक विषमता का बढ़ना हमारे यहाँ पाश्चात्य महादेश से आया है। किसी समय हमारे देश में जब नयी फैशन के ऑफिस-बिहारी और रोजगारियों के घर में नये रुपयों की आमदनी हुई, तब उन लोगों ने विलायती बाबूगिरी का चलन शुरू कर दिया। तभी से असबाव की मात्रा से भद्रता की माप शुरू हुई, इसीलिए हमारे देश में भी आजकल कुल-शील, रीति-नीति, बुद्धि-विद्या इन सबके ऊपर आकर दिखाई देती है धन की विशिष्टता। विशिष्टता का यह गौरव ही मनुष्य के लिए सबसे बढ़कर अगौरव है। यही नीचता कहीं हमारी नस में न घुस जाये, इसके लिये हमें अत्यंत सावधान हो जाना चाहिए।

यहाँ आकर जो मुझे सबसे अच्छा लगा है, वह है इस धन की गरिमा की नीचता का सर्वथा तिरोभाव। सिर्फ इसी वजह से इस देश में जनसाधारण का आत्म-सम्मान क्षण में जाग्रत हो उठता है। किसान-मजदूर सभी कोई आज असम्मान का बोझ फेंक सिर उठाकर खड़े हो सके हैं। इसे देखकर मैं जितना विस्मित हुआ हूँ, उतना ही आनंदित भी। मनुष्य में पारस्परिक व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक सहज-स्वाभाविक हो गया है। बहुत सी बातें कहनी हैं, लिखने की कोशिश करूँगा, परन्तु अभी तो मेरे लिये विश्राम करने की जरूरत है, इसीलिए जंगल के सामने लंबी आराम कुर्सी पर पैर पसारकर बैठूँगा, पैरों पर कम्बल डाल दूँगा फिर अगर आँखें मिच ही जावें, तो जबरन उन्हें रोक रखने की कोशिश नहीं करूँगा।

19 सितम्बर, 1930, मास्को

****

बहुत दिन हुए तुम दोनों को पत्र लिखे। तुम दोनों की सम्मिलित चुप्पी से अनुमान होता है कि वे दोनों पत्र मुक्ति को प्राप्त हो चुके हैं। ऐसी विनष्टि भारतीय डाकखानों में आजकल हुआ ही करती है, इसीलिए शंका होती है। इसी वजह से आजकल चिट्ठी लिखने को जी नहीं चाहता। कम से कम तुम लोगों की तरफ से उत्तर न मिलने पर मैं चुप रह जाता हूँ। निःशब्द रात्रि के पहर लंबे मालूम होने लगते हैं- उसी तरह 'निःचिट्ठी' का समय भी कल्पना में बहुत लम्बा हो जाता है। इसी से रहरहकर ऐसा मालूम होने लगता है, मानो लोकांतर प्राप्ति हुई हो मानो समय की गति बदल गयी है- घड़ी बजती है लंबे तालों पर। द्रौपदी के चीरहरण की तरह मेरा देश जाने का समय जितना ही खिंचता जाता है, उतना ही अनंत होकर वह बढ़ता ही चला जाता है।

खैर, कोई बात नहीं, फिलहाल में रूस में आया हूँ- न आता तो इस जन्म की तीर्थ यात्रा बिलकुल अधूरी ही रह जाती। यहाँ इन लोगों ने जैसा कांड किया है, उस पर भले-बुरे का विचार करने से पहले ही मुँह से निकल पड़ता है- कैसा असम्भव साहस है! 'सनातन' नाम का जो पदार्थ है, वह मनुष्य की नस-नस में मन और प्राणों के साथ हजार-हजार बनकर जकड़ गया है, उसकी कितनी दिशाओं में कितने महल हैं, कितने दरवाजों पर कितने पहरे लग रहे हैं, कितने युगों से कितना टैक्स वसूल करके उसका खजाना पहाड़ बन गया है, इन लोगों ने उसे एकदम जड़ से उखाड़ फेंका है। इनके मन में भय, चिंता, संशय कुछ भी नहीं। सनातन की गद्दी झाड़ फेंकी है, नये के लिए एकदम नया आसन बिछा दिया है। पश्चिम महादेश विज्ञान के बूते पर दुसाध्य को साध्य कर दिखाता है, देखकर मन तारीफ कर उठता है। मगर यहाँ जो विशाल कार्य चल रहा है, उसे देखकर मैं सबसे ज्यादा विस्मित हुआ हूँ। अगर सिर्फ एक भीषण परिवर्तन और नष्ट-भ्रष्ट का मामला होता, तो उससे कुछ आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि नेस्तनाबूद करने की शक्ति इनमें काफी से ज्यादा है। मगर यहाँ देखता हूँ कि ये लोग बहुदूरव्यापी एक खेत बनाकर एक नयी ही दुनिया बनाने में कमर कसकर जुटे पड़े हैं। देर सही नहीं जाती, क्योंकि दुनिया भर में इन्हें प्रतिकूलता दिखायी दे रही है, सभी इनके विरोधी हैं, जितनी जल्दी हो सके, इन्हें अपने पैरों पर खड़ा होना ही होगा, हाथों-हाथ प्रमाणित कर देना है कि ये जो कुछ चाहते हैं, वह इनकी भूल नहीं है, 'हजार वर्ष' के विरुद्ध 'दस-पन्द्रह वर्ष' को लड़कर जीतना ही है- प्रतिज्ञा जो की है। अन्य देशों की तुलना में इनका आर्थिक बल बहुत ही थोड़ा है, हाँ प्रतिज्ञा का जोर दुर्द्धष है।

यह जो क्रांति हुई, उसे रूस में ही होना था, इसके लिये वह बाट जोह रही थी। तैयारियाँ बहुत दिनों से हो रही थीं। प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सभी तरह के लोगों ने कितने ही दिनों से प्राण दिये हैं, असह्य दुःख सहे हैं। संसार में विप्लव के कारण बहुत दूर तक व्याप्त रहते हैं, परन्तु किसी न किसी जगह वे धनीभूत हो उठते हैं, समस्त शरीर का रक्त दूषित होने पर भी कहीं एक

कमजोर स्थान पर फोड़ा होकर लाल हो उठता ही है। जिनके पास धन है, जिनके हाथ में शक्ति है, उनके हाथों से निर्धन और अशक्तों ने इसी रूप में ही असह्य अत्याचार सहे हैं। दोनों पक्षों की वही अत्यधिक असमानता अंत में प्रलय के बीच में से गुजरकर इस रूप में ही प्रतिकार करने पर उतारू है।

एक दिन फ्रांसीसी विद्रोह हुआ था इसी असमानता की ताड़ना से। उस दिन वहाँ के पीड़ित समझ गये थे कि इस असमानता का अपमान और दुःख विश्वव्यापी है, इसीलिए उस दिन के विप्लव में साम्य, भ्रातृत्व और स्वातंत्र्य की वाणी स्वदेश की लकीर पार करके बाहर भी ध्वनित हो उठी थी, पर वह टिकी नहीं। इनके यहाँ क्रांति की वाणी भी विश्ववाणी है। आज संसार में कम से कम इस देश के लोग तो ऐसे हैं, जो अपने राष्ट्र के स्वार्थ पर ही समस्त मानव समाज का स्वार्थ सोच रहे हैं। यह वाणी स्थायी रूप से टिकेगी या नहीं, कोई कह नहीं सकता। परन्तु अपने राष्ट्र की समस्या समस्त मानव जाति की समस्या के अंतर्गत है, यह बात वर्तमान युग के भीतर की बात है, इसे मानना ही होगा।

इस युग में विश्व-इतिहास की रंगभूमि का पर्दा उठ गया है। अब तक मानो भीतर ही भीतर रिहर्सल हो रही थी- थोड़ा-थोड़ा करके अलग-अलग कमरों में। प्रत्येक देश के चारों तरफ चहार-दीवारी थी। बाहर से आने-जाने का रास्ता, बिलकुल था ही नहीं, सो बात नहीं, परन्तु विभागों में बँटे हुए मानव संसार का जो चेहरा देखा है, आज उसे नहीं देखता। उस दिन दिखायी दे रहा था एक-एक पेड़, आज देख रहा हूँ अरण्य। मानव संसार में यदि भार-सामंजस्य का अभाव हो गया हो, तो वह आज दिखाई दे रहा है संसार के इस पार से लेकर उस पार तक। इस तरह विशाल रूप में दिखाई देना भी कम बात नहीं है।

टोकियो में जब कोरिया के एक युवक से पूछा गया कि तुम्हें कष्ट किस बात का था- "हमारे कन्धों पर महाजनों का राज्य सवार है, हम उनके मुनाफे के वाहन हैं।" मैंने पूछा- "किसी भी कारण से हो, जबकि तुम लोग कमजोर हो, तो यह भार तुम अपने बूते पर कैसे झाड़ फेंक सकते हो?" उसने कहा- ''निरुपाय पराधीन राष्ट्रीताएँ तो आज दुनिया भर में फैली हुई हैं, दुःख उन सबको एक साथ मिला देगा। जो शक्ति संपन्न हैं, वे अपने-अपने लोहे के संदूकों और सिंहासनों के चारों तरफ अलग खड़े रहेंगे, वे कभी मिल नहीं सकेंगे, कोरिया को बल मिला है- अपने दुःख का बल।"

दुःखी आज समस्त मानव जाति की रंगभूमि पर अपने को अलग देख रहा था, इसी से किसी भी प्रकार अपने शक्ति रूप को नहीं देख सका है- भाग्य के भरोसे सब कुछ सहता रहता था। आज अत्यंत निरुपाय भी कम से कम उस स्वर्गराज्य की कल्पना कर सका है, जहाँ दुःखी का दुःख दूर होता है, अपमानित का अपमान दूर होता है। यही कारण है कि संसार भर के दुःख जीवी आज जाग उठे हैं, उन्हें अपनी स्थिति का ज्ञान हो गया है।

जो शक्तिमान हैं, वे उद्धत हैं। आज जिस शक्ति की प्रेरणा ने, दुखियों में संचारित होकर, उन्हें चंचल बना दिया है, बलशाली उसे बाहर से दबा देना चाहते हैं, उसके दूतों को घर में घुसने नहीं देते, उल्टे उनका गला घोंट दे रहे हैं। परन्तु वास्तविकता जिससे उन्हें सबसे अधिक डरना चाहिए था, वह है दुःखी का दुःख। पर उसी की ये हमेशा से अवज्ञा करते आये हैं और अब यह उनकी आदत पड़ गयी है। अपने लाभ के लिए उस दुःख को ये बढ़ाये ही जाते हैं, जरा भी नहीं डरते, अभागे किसान को दुर्भिक्ष के कवल में ठूँसकर हर सौ के ऊपर दो-तीन सौ फीसदी का मुनाफा उठाने में इनका हृदय नहीं काँपता, क्योंकि उस मुनाफे को ही ये शक्ति समझते हैं। परन्तु मानव-समाज के लिए सभी तरह की अति में विपत्ति है, उसे बाहर से कभी भी दबाया नहीं जा सकता। अतिशक्ति अतिकमजोर के विरुद्ध हमेशा अपने को बढ़ाये नहीं चल सकती। क्षमताशाली यदि अपनी शक्ति के मद में उन्मत न रहता, तो वह सबसे ज्यादा डरता इसी विषमता की ज्यादती से, क्योंकि असमंजस मात्र ही विश्वविधि के विरुद्ध है।

मास्को से जब निमंत्रण मिला, तब तक बोलशेविकों के सम्बन्ध में मेरे हृदय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी। उनके विषय में बारबार उल्टी ही बातें सुनता आया था। मेरे मन में उनके विरुद्ध एक खटका सा था, क्योंकि प्रारम्भ में जो उनकी साधना थी, वह जबरदस्ती की थी। मगर अब एक बात देखने में आयी, यह कि इनके प्रति यूरोप में जो विरुद्धता थी, वह अब क्षीण होती जा रही है। मैं रूस जा रहा हूँ, सुनकर बहुतों ने मुझे उत्साहित किया है। यहाँ तक कि एक अंग्रेज के मुँह से भी इनकी प्रशंसा सुनी है। बहुतों ने कहा है कि ये एक अति आश्चर्यजनक परीक्षा में लगे हुए हैं।

और बहुतों ने मुझे डराया भी था, पर डराने का मुख्य विषय था आराम की कमी। कहते थे, खाना-पीना सब ऐसा मामूली दर्जे का है कि मुझसे वह सहा नहीं जायेगा। इसके सिवा ऐसी बातें भी बहुतों ने कही थी कि मुझे ये लोग जो कुछ दिखायेंगे, उसका अधिकांश भाग बनावटी होगा। यह तो मानना ही पड़ेगा कि मेरी उम्र में मुझ जैसे शरीर वाले का रूस में भ्रमण करना दुस्साहस है, परन्तु संसार में जहाँ सबसे बढ़कर ऐतिहासिक यज्ञ का अनुष्ठान हो रहा हो, वहाँ निमंत्रण पाकर भी न जाना मेरे लिये अक्षम्य होता। ❑

इधर-उधर की

अच्छे दिन आ गये कहिये

जिस समय देशभर में भाजपा के पक्ष में अपार बहुमत वाले नतीजे आ रहे थे, ठीक उसी समय अदानी पोर्ट, धामरा पोर्ट के अधिग्रहण के लिए 5500 करोड़ का सौदा कर रहा था।

इसी दौरान अदानी की कम्पनियों के शेयरों में भी तेजी से उछाल आ रहा था। पिछले आठ महीने में अदानी की तीन कम्पनियों के शेयरों की कीमत बढ़ने से बिना हर्रे-फिटकरी लगे उनकी बाजार पूँजी 62000 करोड़ रुपये से बढ़कर 100000 करोड़ रुपये हो गयी।

नयी सरकार का एजेण्डा

नयी सरकार का असली एजेंडा आर्थिक क्षेत्र में लागू हो रहा है। रक्षा क्षेत्र में 100 प्रतिशत विदेशी निवेश, रेलवे में विदेशी निवेश, बाल्को और हिंदुस्तान जिंक सहित कई सार्वजनिक निगमों का शेयर बेचना, सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का शेयर बेचना और उनका नीजिकरण इत्यादि।

ध्यान भटकाने के लिए धारा 370 जैसे विवाद भी चलते रहेंगे।

मेट्रो रेल पूँजी का खेल

मुम्बई में मेट्रो ट्रेन का ठेका रिलायंस इन्फ्रास्ट्रक्चर का है। उसने पहले से तय किराये 9 से 13 रुपये से बढ़ाकर 10 से 40 रुपये कर दिये। यानी 11.4 किमी० की दूरी का किराया 40 रुपये।

पब्लिक ट्रांसपोर्ट का ठेका प्राइवेट कम्पनी को देने का यही नतीजा है। निजीकरण का मतलब है लूट-खसोट।

कोलेटरल डैमेज का विकास

सरदार सरोबर की ऊँचाई 121.92 मीटर से बढाकर 138.68 मीटर करने की इजाजत दे दी गयी। यानी बाँध के जलाशय में अब छह मन्जिली इमारत के बराबर और पानी भरेगा। इस बाँध के चलते उजाड़े गये हजारों लोगों का पुनर्वास का मुआवजा अभी भी दिया जाना बाकी है।

यानी विकास होगा। डूब क्षेत्र में डूबने वाले खेत, गाँव, मन्दिर, पाठशाला, बाग-बगीचे, मजूर-किसान, पशुधन तो समझिये की विकास के इस युद्धघोष में सहवर्ती नुकसान (कोलेटरल डैमेज) हैं।

विवा ब्राजीलियो!

इसे उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं की त्रासदी कहें या बिडम्बना... 'देश नहीं बिकने देंगे' का नारा लगनेवाले इन देशों के शासक थैलीशाह कुछ भी बेचकर डॉलर कमाने पर आमादा हैं।

फीफा विश्व कप फुटबॉल के मौके पर ब्राजील में दस लाख वेश्याओं को मेहमाननवाजी के लिए उतारा गया है। लेकिन तस्वीर का दूसरा पहलू भी जिन्दा है। ब्राजील की जनता प्रबल प्रतिरोध के लिए सड़कों पर उतरी हुई है। विवा ब्राजीलियो!

नेपोलियन जब इंग्लैण्ड पर चढ़ाई करने जा रहा था, तो वह तीन क्रान्तियों के पुरोधा टॉम पेन से आशीर्वाद लेने गया। टॉम पेन ने उससे कहा कि दो इंग्लैण्ड हैं- एक शासकों का और दूसरा शासित-शोषित जनता का। तुम पहले को जीत सकते हो, दूसरे को कत्तई नहीं। और यही हुआ। आज भी दुनियाभर में यही हो रहा है। जनता अजेय है।

राजनीतिक कैरियर बनाने का पाठ्यक्रम

पूणे के एक निजी संस्थान नें राजनीति में कैरियर के लिए नेतृत्व कार्यक्रम का विज्ञापन दिया है। एक वर्षीय स्नात्कोत्तर पाठ्यक्रम के दौरान राष्ट्रीय स्तर के नेताओं से सम्पर्क, एनजीओ, ग्राम पंचायत, जिला परिषद इत्यादि का दौरा, राष्ट्रीय स्पर पर दिल्ली और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर यूरोप की अध्ययन यात्रा, दो महीने राजनीतिक पार्टियों और नेताओं के साथ अन्तरंग प्रशिक्षण का कार्यक्रम होगा।

विज्ञापन के मुताबिक पाठ्यक्रम पूरा करने वालों को सलाहकार, रणनीतिकार, नीति-निर्माता, राजनीतिक विश्लेषक, चुनाव परामर्शदाता तथा राजनीतिक पार्टियों और नेताओं के कार्यालय प्रबंधक की नौकरी मिल सकती है।

यह पाठ्यक्रम पिछले 10 वर्षों से चलाया जा रहा है। इसकी फीस 1,70,000 रुपये है।

राजनीति पेशा है तो पेशेवर का प्रशिक्षण और बाजार में उनकी माँग भी होगी ही।

साक्षात्कार

अतीत और वर्तमान को समझने की दिशा में एक प्रयास

रोमिला थापर के साथ कुलदीप कुमार की बातचीत, 06 मई 2014

1961 में *'अशोका एंड द डिक्लाइन ऑफ द मौर्यास'* (अशोक और मौर्यों का पतन) के प्रकाशन के साथ ही, रोमिला थापर प्राचीन भारत के सर्वश्रेष्ठ इतिहासकारों के रूप में उभरकर सामने आयीं। 43 साल बाद भी, यह किताब उस महान सम्राट और उसके समय के बारे में सबसे ज्यादा प्रमाणिक व्याख्या बनी हुई है। 1966 में जब *पेंग्विन* ने उनकी किताब *हिस्ट्री ऑफ इंडिया वोल्यूम 1* प्रकाशित की, तब लोगों ने महसूस किया कि इतिहास को इतनी स्पष्टता के साथ भी लिखा जा सकता है। जल्दी ही यह किताब हर उस व्यक्ति के लिए जो भारत के इतिहास को गहराई से समझना चाहता हो, एक मानक पाठ्यपुस्तक बन गयी। उसके बाद अनेकों और किताबें प्रकाशित हुईं और जैसा कि क्लुज पुरस्कार द्वारा उनके लिये सम्मान लेख में कहा गया, "प्राचीन भारत के विशिष्ट इतिहासकार" के तौर पर उन्हें व्यापक रूप से स्वीकार कर लिया गया। इतिहास के लिए उनकी अपनी तार्किक और वैज्ञानिक पद्धति के साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष ध्येय के प्रति अपने निर्भीक समर्थन के कारण, उन्हें भारत और विदेश दोनों जगह हिंदुत्ववादी समर्थकों के हमलों और घृणित प्रचारों का निशाना बनना पड़ा।

दिल्ली विश्वविद्यालय और कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में अध्यापन के बाद,1972 में उन्होंने जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में प्राचीन भारत के इतिहास के प्रोफेसर का पदभार ग्रहण किया। अब वहाँ मानद प्रोफेसर हैं। रोमिला थापर विश्वविद्यालय के लेडी मार्गरेट हाल, ऑक्सफोर्ड की मानद सदस्य हैं तथा कार्नेल विश्वविद्यालय और युनिवर्सिटी ऑफ पेंसिल्वेनिया के साथ-साथ कॉलेज डी फ्रांस, पेरिस में अतिथि प्रोफेसर हैं। 1983 में उन्हें भारतीय इतिहास कांग्रेस का अध्यक्ष और 1999 में ब्रिटिश एकेडमी का सदस्य चुना गया था।

रोमिला थापर दो बार, 1992 और 2005 में, पद्म भूषण ठुकरा चुकी हैं। तब राष्ट्रपति एपीजे अब्दुल कलाम को लिखे अपने पत्र में उन्होंने स्पष्ट किया- "मैंने कुछ साल पहले ही यह निश्चय कर लिया था कि मैं सिर्फ अकादमिक संस्थानों या अपने पेशे से जुड़े संस्थानों के द्वारा दिये जाने वाले सम्मान ही स्वीकार करूँगी। मैं सरकारी सम्मान स्वीकार नहीं करूँगी।" 2008 में, उन्हें इतिहासकार पीटर ब्राउन के साथ "स्टडी ऑफ ह्यूमैनिटी विषय" पर लाइफटाइम एचीवमेंट के लिए प्रतिष्ठित क्लुज पुरस्कार दिया गया। यूस लाइब्रेरी ऑफ कांग्रेस ने उन विषयों को सम्मिलित करने के लिए यह पुरस्कार शुरू किया था जिन्हें नोबेल पुरस्कार में शामिल नहीं किया जाता। कुलदीप कुमार ने उनसे इस बारे में बातचीत की कि कैसे भारतीय इतिहास लेखन सदियों के दौरान विकसित हुआ। उन्होंने भारत में असहमति की परम्परा और वर्तमान समय में बौद्धिक अभिव्यक्ति का गला घोंटने के प्रयासों के बारे में भी बात की।

प्रस्तुत हैं उसी साक्षात्कार के अंश-

आपकी हाल ही में प्रकाशित किताब "द पास्ट बिफोर अस" प्राचीन उत्तर भारत में ऐतिहासिक परम्परा के बारे में विस्तार से चर्चा करती है। फिर भी इस बात पर हैरानी होती है कि क्यों और कैसे यह दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया गया कि भारतियों में ऐतिहासिक चेतना का अभाव है?

मेरी यह किताब जो छह महीने पहले प्रकाशित हुई यह उस समय की ऐतिहासिक परम्परा के बारे में है जिसे मैं प्राचीन उत्तर भारत कहती हूँ वह काल जो लगभग 1000 ईसापूर्व से 1300 ईसवी तक का है। यह किताब मूलरूप से इतिहास-लेखन का अध्ययन है और यह ऐतिहासिक लेखन का वह क्षेत्र है जिस पर भारत में हमने बहुत ज्यादा ध्यान नहीं दिया है, विशेष तौर पर प्राक-आधुनिक भारत के सन्दर्भ में। यह आधुनिक भारतीय इतिहास के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है लेकिन प्राक-आधुनिक भारतीय इतिहास के लिए इसका महत्त्व थोड़ा कम है। यह महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह उस समय के इतिहासकारों और विचारधारा का अध्ययन है जो हमारे इतिहास लेखन को प्रभावित करते हैं। इसलिए यह इतिहास लेखन पर इतिहास द्वारा की गयी टिप्पणी है।

इसकी शुरूआत मेरे इस प्रश्न पर विचार करने से हुयी कि हर कोई यह क्यों कहता है कि भारतीय सभ्यता में इतिहासबोध का अभाव है। मैं यह नहीं समझ सकी कि क्यों एक जटिल सभ्यता का अतीत के बारे में कोई बोध विकसित नहीं हुआ और क्यों वह विशिष्ट तरीकों से अतीत से अपना

सम्बन्ध कायम नहीं कर सकी। प्रत्येक समाज की अपने अतीत के बारे में एक समझ होती है और वह अपने अतीत को लेखन के भिन्न-भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है।

ऐसा क्यों कहा जाता है कि भारतीय सभ्यता में इतिहासबोध का अभाव है? मेरा यह मानना है कि इसका सम्बन्ध भारतीय इतिहास के औपनिवेशिक लेखन से है।

आपका अभिप्राय प्राच्यवादियों से है?[1]

कुछ हद तक प्राच्यवादियों से, और कुछ हद तक प्रशासक-इतिहासकारों से, जैसा कि उन्हें अक्सर कहा जाता है। ये ब्रिटिश प्रशासक थे जिन्होंने इतिहास लेखन भी किया था और निश्चय ही इसका सबसे प्रमुख उदाहरण विंसेंट स्मिथ है। लेकिन उससे पहले भी 19वीं सदी में, प्राचीन भारतीय इतिहास को एक ऐसे इतिहास के तौर पर देखा जाता था जो एक ठहरे हुए समाज से आता था। जिसमें कोई बदलाव नहीं होता था। यह तर्क दिया जाता था कि अगर समाज में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो यह स्पष्ट है कि उसके लिये इतिहास का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि इतिहास परिवर्तन का दस्तावेज है, परिवर्तन की व्याख्या है। इसलिए अगर आप कहते हैं कि समाज ठहरा हुआ है तो एक हद तक आपका यह कहना उचित है कि उस समाज में इतिहास बोध का अभाव है।

ठहरा हुआ किस अर्थ में?

इस अर्थ में कि बिलकुल ही कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं हुआ और समाज का ढाँचा निरंतर एक जैसा ही बना रहा। इसके बाद उन्होंने इसे काल के सिद्धान्त के साथ जोड़ दिया और कहा कि काल का प्राचीन भारतीय सिद्धान्त पूरी तरह चक्रीय है। यह एक ही चक्र का निरंतर बार-बार दोहराया जाना है, जो निश्चय ही तकनीकी रूप से सही नहीं है, क्योंकि अगर आप चक्रीय समय की भी व्याख्या को पढ़ते हैं तो यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि चक्र का आकार परिवर्तित होता है और हर चक्र में मौजूद धर्म की मात्रा में भी परिवर्तन होता है।

वास्तव में, यह कम होता जाता है।

हाँ, कम होता जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि ऐसा होने के पीछे कोई न कोई सामाजिक परिवर्तन जरूर होना चाहिए। लेकिन इसे स्वीकार नहीं किया गया। हालाँकि इससे भी बढ़कर सबसे महत्त्वपूर्ण कारक यह था कि एक औपनिवेशिक ढाँचा, एक उपनिवेशी शासन, उस समाज के लोगों पर उपनिवेश या औपनिवेशिक समाज की अपनी खुद की समझ थोपना चाहता है। और ऐसा करने का सबसे बेहतर तरीका यह कहना है कि "हम तुम्हारे लिए तुम्हारे इतिहास की खोज करेंगे और फिर तुम्हें बताएँगे कि वह क्या था।" ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने इस काम को मुख्य रूप से प्राक-आधुनिक भारतीय इतिहास के बारे में इस समझ के साथ सम्पन्न किया कि इसका सारतत्व दो धार्मिक समुदायों के मेल से निर्मित हुआ है।

हिंदू और मुसलमान?

हाँ। यह जेम्स मिल्स के काल विभाजन तक (हिंदू, मुसलमान और ब्रिटिश काल) और भारतीय समाज को इन दो धार्मिक समुदायों के सन्दर्भ में देखने की सनक तक जाता है।

महाभारत को पारम्परिक रूप से इतिहास के तौर पर श्रेणीबद्ध किया गया था। क्या अतीत को देखने का भारतीय तरीका बहुत अलग था?

जब कोई प्राचीन भारत के पाठ का अवलोकन करता है तो यह सम्भव है कि उसे कुछ ऐसे पाठ देखने को मिलें जिनमें उसे इतिहास के किसी पहलू की झलक दिखायी दे। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने तर्क दिया कि सिर्फ कश्मीर में 12वीं सदी के दौरान लिखी गयी कल्हण की रचना 'राजतरंगिणी' में ही कश्मीर में इतिहास की झलक दिखायी देती है। उनका कहना था कि यह एक अपवाद था। हालाँकि मूल पाठों को सतर्कतापूर्वक देखने पर कुछ दिलचस्प पहलुओं की जानकारी मिलती है। उदाहरण के लिए, मूल पाठों के कुछ हिस्से का वर्णन 'इतिहास' के तौर पर किया गया है। इस शब्द का अर्थ उस तरह से 'इतिहास' नहीं है जैसा हम आज समझते हैं। इसका अर्थ केवल इतना है कि 'अतीत में ऐसा हुआ था'। अगर हम 'इतिहास-पुराण' शब्द को लें, तो उसका अर्थ है कि यह वही है जैसा हम सोचते हैं कि अतीत में घटित हुआ था। लेकिन इसके बारे में जो महत्त्वपूर्ण बात है वह यह है कि यहाँ एक खास तरह के इतिहास के बारे में एक सचेतनता है, भले ही वह ऐतिहासिक रूप से सही न हो। यही वह चीज है जिसमें मेरी दिलचस्पी है।

इसलिए मैंने किताब में तर्क दिया कि इस प्रश्न के तीन पहलू हैं जिनकी जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए। पहला,

वह कौन से पाठ हैं जो ऐतिहासिक चेतना को प्रदर्शित करते हैं और जिन्हें हमें ऐतिहासिक तौर पर सही मानने की आवश्यकता नहीं है लेकिन जो उन लोगों की तरफ संकेत करते हैं जो कुछ हद तक इस दिशा में सोच रहे हैं। उसके बाद दूसरा पहलू वह है जिसे मैं ऐतिहासिक परम्परा कहती हूँ, जहाँ जो भी आँकड़े, विवरण या अतीत के बारे में जो कुछ मिल जाये, उसे हासिल करने का जान-बूझकर प्रयास किया जाता है और फिर उसे एक साँचे में ढालने के लिए चालाकी से उसमें फेरबदल किया जाता है। मेरा तर्क यह है कि विष्णु पुराण के बारे में एक किताब में ऐसा किया गया है जहाँ अतीत का एक कथा के रूप में वर्णन किया गया प्रारम्भ मिथकीय मनु से और उसके बाद उत्तराधिकारी समूहों, वंश समूहों, मध्य युग में गोत्रों और अन्त में राजवंशों और उसके शासकों को सूचीबद्ध किया गया है। आधुनिक इतिहासकारों के लिए जरूरी नहीं कि ऐतिहासिकता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो यानि यह महत्त्वपूर्ण नहीं कि कौन से व्यक्ति और घटनाएँ वास्तविक हैं कि उस आख्यान में समाज के दो विभिन्न रूपों और ऐतिहासिक परिवर्तन की झलक प्रतिबिम्बित होती है।

आपका अभिप्राय इक्ष्वाकु से है?[2]

हाँ, इक्ष्वाकु से आने वाली कुछ वंशावलियाँ और इला से आने वाली दूसरी वंशावलियाँ। मूल रूप से यह गोत्र समाज का एक रूप है जो राजवंशों से भिन्न है।

इसके बाद आने वाले उत्तर-गुप्त काल में, रूपों में परिवर्तन होता है और वहाँ आख्यान का स्पष्ट और सचेत लेखन है जिसके बारे में दावा किया जाता है कि घटनाएँ वैसी ही लिखी गयी हैं जैसी वे वास्तव में घटित हुईं थीं। और दिलचस्प यह कि इनमें सबसे पहले बौद्धों और जैनियों के आख्यान शामिल हैं। बौद्धों और जैनियों की परम्पराओं में एक तीव्र इतिहास बोध पाया जाता है, वह शायद इसलिए है क्योंकि उनकी शिक्षाएँ और चिंतन ऐसे ऐतिहासिक व्यक्तियों पर आधारित हैं जिनका वास्तव में अस्तित्व था। इतिहास में उनका स्थान कोई भी स्पष्ट रूप से देख सकता है। दूसरी ओर, उत्तर-पौराणिक ब्राह्मणीय परम्परा तीन प्रकार की रचनाओं को देखती है जो वर्तमान और अतीत के अभिलेख हैं और इसलिए वह इतिहास लेखन में सहायक है। पहला, राजाओं के जीवन-वृतांत- 'चरित्र' साहित्य। हर्षचरित्र, रामचरित्र और इस प्रकार का अन्य आख्यान उपलब्ध है। दूसरा शिलालेख हैं जो लगभग हर राजा ने जारी किये। कुछ शिलालेख बेहद लंबे हैं जो राजवंशों का थोड़ा संक्षिप्त इतिहास और अलग-अलग राजाओं की गतिविधियों की जानकारी देते हैं। अगर किसी एक राजवंश के सभी शिलालेखों को कालक्रम में शुरु से अन्त तक एकसाथ रखा जाय तो उसका परिणाम उस राजवंश का एक खास तरह का इतिहास होगा। हमारे आज के बहुत से अध्ययन कि उत्तर-गुप्त काल में क्या हुआ था- कम से कम कालक्रम और राजवंशों से सम्बन्धित अध्ययन- मुख्य रूप से इन शिलालेखों पर आधारित हैं। और अभी हाल ही में इन शिलालेखों ने भूमि सम्बन्धों, श्रम और सत्ता के पदानुक्रम से सम्बन्धित राजनीतिक आर्थिक परिवर्तनों के प्रमाण भी उपलब्ध कराये हैं।

यहाँ तक कि अशोक के आदेशपत्रों में भी एक इतिहास बोध दिखायी देता है। उसने ये आदेशपत्र अपनी प्रजा को निर्देश देने के तात्कालिक उद्देश्य से जारी किये थे, लेकिन भावी पीढ़ी भी उसके दिमाग में अवश्य रही होगी।

हाँ, ऐसा ही हुआ होगा। उनमें से कुछ में तो वह यहाँ तक कहता है कि उसे उम्मीद है कि उसके पुत्र और पौत्र हिंसा का त्याग कर देंगे और अगर वे ऐसा नहीं कर पाये, तब भी कम से कम वे दंड देने के मामले में दयालु होंगे। इसलिए वहाँ भावी पीढ़ी के लिए लिखित निर्देश जारी करने की भावना है और मैं यह सोचती हूँ कि यह विशेष तौर से शिलालेखन से सम्बन्धित साहित्य में एकदम स्पष्ट है। एक पत्थर या ताम्रपत्र पर या एक खास तरह से बनाये गये स्तंभ या शिला के अग्रभाग या मंदिर की दीवार पर खुदवा कर लिखने का कष्ट क्यों उठाया गया? ऐसा इस इच्छा के चलते किया गया ताकि अगली कई पीढ़ियों तक इसे लगातार पढ़ा जाय।

तीसरे प्रकार का इतिहास लेखन निश्चय ही कालक्रम से किया गया अभिलेखन है। राजतरंगिणी कश्मीर का वृतांत है और वह बेहद शानदार और उच्चस्तरीय है। लेकिन इसके अलावा कई इससे छोटे वृतान्त भी इतिहास लेखन के उदाहरण हैं जिन्हें संजो कर रखा गया, हालाँकि वे कल्हण के इतिहास लेखन जितने उत्कृष्ट नहीं हैं।

मध्यकाल में राजदरबारों में महाकाव्य साहित्य के नये संस्करणों का कालक्रमानुसार लेखन जारी रहा, रामायण और महाभारत के नये संस्करण लिखे गये और बाद में जन्मी कई नयी भाषाओं में भी इनके नये संस्करण लिखे गये।

आप दो महाकाव्यों - रामायण और महाभारत- को

कैसे समझती हैं? आम तौर पर हिंदू यह सोचते हैं कि उनमें जो कुछ भी वर्णन दिया गया है, ठीक वैसा ही घटित हुआ था। इन महाकाव्यों की ऐतिहासिकता को सुनिश्चित करने के लिए हस्तिनापुर और अयोध्या में खुदाई का काम भी किया गया।

भारतीय महाकाव्यों की व्याख्या करने में इतिहासकारों के सामने दो समस्यायें पेश आती हैं। एक तरीके से यह भारत की विशिष्ट समस्या है, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी महाकाव्य अनिवार्य रूप से धार्मिक पाठ नहीं बन पाये हैं। वे प्राचीन समय के नायकों का वर्णन करने वाली कविता ही बने रहे। लेकिन यहाँ ये पवित्र या अर्द्ध-पवित्र ग्रन्थ बन गये हैं। इसकी वजह से हमारे सामने दो समस्याएँ आती हैं। पहली बहुत ही आधारभूत समस्या है जो आजकल हर वक्त हमारे सामने पहले हमेशा से ज्यादा ही सामने आती रही है। यह समस्या आस्था और इतिहास के बीच सीमारेखा खींचने से सम्बन्धित है। यहाँ यह प्रवृति मौजूद है कि अगर आप एक इतिहासकार के रूप में महाभारत का अध्ययन कर रहे हैं तो महज इसलिए कि आप उसे एक पवित्र साहित्य की तरह देखते हैं। लेकिन आप ऐसा नहीं करते। एक इतिहासकार होने के नाते आप लेखन को उस दौर के समाज के सन्दर्भ में देखते हैं और आप उसे एक धर्मनिरपेक्ष, तर्कसंगत ढंग से विश्लेषित करते हैं।

इससे समस्या पैदा होती है क्योंकि, आस्थावान व्यक्ति के लिए ये घटनाएँ वास्तव में घटीं। उनके लिये ये वे लोग थे जिन्होंने जिंदगी जी और जिन्होंने शिक्षा प्राप्त की, इत्यादि। जबकि एक इतिहासकार के लिए यह प्रमुख ऐतिहासिक चिंता नहीं है कि ये व्यक्ति और घटनाएँ ऐतिहासिक हैं या नहीं। महत्त्वपूर्ण बात उस व्यापक ऐतिहासिक सन्दर्भ को सुनिश्चित करना है, जिसका मूलपाठ में वर्णन किया गया है और यह देखना है कि साहित्य के रूप में उस समाज का सार प्रस्तुत करने में उसकी क्या भूमिका है। हमारे पास कोई ऐसा वास्तविक प्रमाण नहीं है कि इन लोगों का वास्तव में अस्तित्व था। जब तक हमें इस बात का वास्तविक प्रमाण नहीं मिल जाता, हम इस बारे में कोई फैसला नहीं ले सकते। ये दो अलग-अलग क्षेत्र हैं, लेकिन दुर्भाग्यवश आज हो यह रहा है कि आस्था के आधार पर बोलने वाले कुछ लोगों में- सब में नहीं, बल्कि एक छोटे-से हिस्से में - यह माँग करने की प्रवृति रखते हैं कि इतिहासकार ऐतिहासिकता को महज उसी आधार पर स्वीकार कर लें कि आस्थावान लोग इसे इतिहास मानते हैं। इतिहासकार ऐसा नहीं कर सकते। आज इतिहास को आस्था पर नहीं, आलोचनात्मक जाँच-पड़ताल पर आधारित होना चाहिए।

यही वजह है कि इतिहास की पाठ्यपुस्तकों में परिवर्तन की माँग उठायी जाती है?

हाँ, बिल्कुल। उदाहरण के लिए यह बहुत ही दिलचस्प है कि एनसीआरटी की उन पाठ्यपुस्तकों पर बहस की जा रही है, जिनमें हमने प्राचीन, मध्य काल और यहाँ तक कि आधुनिक समय तक का पूरा इतिहास लिखा। आज उन किताबों की आलोचना और उनमें बदलाव की माँग धार्मिक संगठनों और धार्मिक संस्थाओं की ओर से पेश की जाती है। ऐसी माँग दूसरे इतिहासकारों की ओर से नहीं की जाती। यह इस बात का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण है कि कैसे आस्था, एक मायने में, इतिहासकारों के कार्यक्षेत्र में दखलंदाजी करती है।

दूसरे, कोई भी यह प्रश्न पूछ सकता है कि क्या यह सिर्फ आस्था का मामला है, या जिसे आस्था की तरह पेश किया जाता है उसमें कोई राजनीतिक तत्व भी शामिल है? क्योंकि जिन संगठनों द्वारा ये माँग पेश की जाती है, उनके राजनीतिक संगठनों से जुड़ाव हैं। हर हालत में, समाज में जिस संगठन का एक दबदबा होता है उसका कोई राजनीतिक रवैया भी होता है, जिसका 'राजनीतिक' शब्द के व्यापक अर्थ में इस्तेमाल किया जाता है। इसलिए, इतिहास के क्षेत्र में आस्था की दखलंदाजी सिर्फ धर्म और इतिहास का टकराव नहीं है। यह एक खास तरह की राजनीति के साथ टकराव भी है।

आजकल हर किसी की धार्मिक भावनायें आहत होने के लिए उत्सुक रहती हैं। क्या हमारे यहाँ असहमति की परम्परा रही है? प्राचीन भारत में किस हद तक असहमति को सहन या स्वीकार किया जाता था?

निश्चय ही, हमारे यहाँ असहमति की परम्परा रही है। मैं इसे उदाहरण देकर समझाती हूँ। जब अतीत में लोग, खासकर बाहर से आने वाले लोग, भारत में धर्म के बारे में लिखते थे तब वे अक्सर दो मुख्य धार्मिक समूहों का सन्दर्भ लेते थे- ब्राहमण और श्रमण। वह चाहे ईसापूर्व चौथी सदी में मेगास्थनीज हो या 12वीं इसवीं में अल-बरूनी हो, वे सभी ब्राहमणों और श्रमणों की बात करते थे। वास्तव में, जैसे अशोक ने पंथों का जिक्र करते हुए अपने शिलालेखों में इनके बारे में बात की।

क्या यह वैदिक और गैर-वैदिक का भेद है?

इससे कहीं ज्यादा। क्योंकि जब हम अल-बरुनी के काल में आते हैं, तब ब्राहमण ही वेदों की और साथ ही पुराणों की भी शिक्षा दे रहे थे। पुराणों पर आधारित हिन्दुवाद ज्यादा लोकप्रिय था जैसे कि शिल्पकला, चित्रकला और कुछ साहित्यिक श्रेणियों में दिखायी देता है। श्रमणों में बुद्ध और जैन शामिल थे, जिन्हें ब्राह्मण नास्तिक कहते थे। सम्भव है कि इस शब्दावली में दूसरे सम्प्रदायों को भी शामिल किया गया हो जो वैदिक आस्था के अनुयायी नहीं थे, जैसे कि भक्तिमार्गी गुरू। इस दुचितेपन के बारे में दिलचस्प बात यह है कि पंतजलि ने संस्कृत के अपने व्याकरण-सम्बन्धी अध्ययन में इन दोनों का जिक्र विरोधियों की तरह किया है और इन्हें साँप और नेवले जैसा कहा है। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मणवादी परम्परा में गम्भीर असहमतियाँ मौजूद थीं।

क्या यह संघर्ष में तब्दील हुआ?

हाँ, कुछ मामलों में ऐसा हुआ। राजतरंगिणी में कल्हण वर्णन करते हैं कि उस काल के एक विशेष दौर में, पहली सदी के मध्य के आसपास बौद्ध सन्यासियों पर हमले हुए और बौद्ध मठों को तबाह किया गया। इसके बाद, तमिल स्रोत जैनियों को सूली पर चढ़ाये जाने का जिक्र करते हैं। शिलालेख शैवों और जैनियों के बीच, शैवों और बौद्धों के बीच और अन्य मतों के बीच असहमतियों का भी जिक्र करते हैं। लेकिन उनके बीच कभी भी जिहाद या धर्मयुद्ध नहीं हुए, हालाँकि असहिष्णुता की घटनाओं के प्रमाण जरूर मिले हैं।

इसकी वजह यह हो सकती है कि प्राक-आधुनिक भारतीय सभ्यता में धार्मिक प्रवृति का उतना भेदभाव नहीं था। इसके बजाय उसका स्वरुप यह था कि जाति से सम्बन्धित लोग जाति के बाहर के लोगों को इंसानों से कमतर समझते थे। यह भारत में हर धर्म का चरित्र है भले ही वह धर्म यहीं का हो या कहीं बाहर से आया हो।

असहमति इस अर्थ में दिलचस्प रूप ले लेती थी कि खुद दोनों परम्पराओं के भीतर भी असहमतियाँ थीं ब्राह्मणवादी और श्रमणवादी दोनों में। यह बहस और विचारविमर्श की प्रचलित और स्थापित प्रक्रियाओं में भी स्पष्ट दिखायी देता है। पहले विरोधी पक्ष का दृष्टिकोण सम्पूर्णता में और निष्पक्ष रूप से पेश किया जाता और उसके बाद उस विचार के प्रस्तुतकर्ता की अन्तरविरोधी बातों को विस्तार से पेश किया जाता। उसके बाद ही सहमति या असहमति का निर्णय किया जाता। उल्लेखनीय यह है कि असहमति को मान्यता दी जाती और उस पर बहस की जाती। इस बात के अनेकों प्रसंग मौजूद हैं जब राजाओं के दरबार में लोग बहस के बाद विजयी हुए या पराजित हुए।

और विरोधियों के दृष्टिकोण यानि पूर्वपक्ष के दृष्टिकोण को ईमानदारी से पेश किया जाता था?

हाँ, क्योंकि वाद-विवाद सार्वजनिक रूप से आयोजित होता था।

क्या लेखन के क्षेत्र में भी ऐसा होता था?

हाँ, यहाँ लेखन के क्षेत्र में भी ऐसा होता था। जैसा कि किसी भी अच्छे विद्वता के क्षेत्र में किया जाता है कि अगर आपको किसी चीज का खण्डन करना है, तो पहले आपको उसे पूरी तरह समझना चाहिए। अन्यथा वह एक सतही आलोचना होगी। यह एक बेहतर पांडित्य का सार है और स्पष्ट रूप से यह उस वक्त अस्तित्व में था। असहमति का सामना करने का दूसरा तरीका जिसे काफी प्रभावी माना जाता था, वह यह था कि ब्राहमणवादी परम्परा उन लोगों को सहजता से नजरंदाज कर देती थी, जिनसे वे सहमत नहीं होते थे। विष्णुपुराण में ब्राहमणों, बौद्धों और जैनियों के बीच के तनाव की दिलचस्प झलक मिलती है जिसमें बौद्धों और जैनियों को महामोहा कहा गया है, जिसका अर्थ है - भ्रमित करने वाले। और इसके पीछे कहानी यह है कि उन्होंने ब्रह्माण्ड की व्याख्या करने वाले एक सिद्धान्त की कल्पना की, जो एक भ्रम था और जो लोगों को गलत दिशा में ले गया। इसलिए उन्हें भ्रमित करने वाला कहकर उनकी भर्त्सना की गयी। असहमति का मुकाबला करने का यह एक अलग ही तरीका था।

आम तौर पर यह कहा जाता है कि वह शंकराचार्य ही थे जिन्होंने हिन्दुत्व की रक्षा की। लेकिन मुझे यह तर्क अस्वीकार्य लगता है क्योंकि उन्होंने बौद्ध धर्म के कुछ विचारों को हथिया लिया था। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म के पतन के और भी कई कारण थे। यह दिलचस्प है कि मठों की स्थापना की व्यवस्था, जो पहले उस रूप में अस्तित्व में नहीं थी, वह कुछ हद तक बौद्ध और जैन विहारों के मठनुमा ढाँचे के समानान्तर खड़ी की गयी प्रतीत होती है। इसका प्रभाव यह था कि जब शिक्षा देने के काम को बड़े पैमाने पर संगठित और विस्तृत करना हो, तब उसका समर्थन करने के लिए एक संस्थान का होना आवश्यक था।

कुछ भी हो, शंकराचार्य को 'प्रच्छन्न बुद्ध" - एक गुप्त बुद्ध - की उपाधि दी गयी।

हाँ, वह थे। लेकिन मैं सोचती हूँ कि ऐसा इसलिए था, क्योंकि उन्होंने आन्दोलन को संगठित करने के लिए श्रमणिक परम्परा की कुछ विशिष्टतायें अपनायी और यह एक ऐसा तथ्य है जिसे हम स्वीकार नहीं करते। विचारधारा की जाँच-पड़ताल करते समय यह देखना दिलचस्प है कि विरोधी परम्परा से क्या सीखा और हथिया लिया गया।

रामकथा की बहुलता के बारे में आपकी क्या राय है? बौद्ध और जैन परम्परा में इसके अनेकों रूपांतर पाये जाते हैं।

लोगों के बीच इन कहानियों के अपने अलग-अलग संस्करण हैं। रामकथा एक बेहद लोकप्रिय कहानी थी और आज भी है। और बौद्ध जातक कथाओं में भी इसके कुछ हिस्से कई स्थानों पर पाये गये हैं। जिसे दशरथ कथा कहा जाता है वह कहानी का सिर्फ एक हिस्सा है। इसमें राम और सीता वनवास के लिए जाते हैं, वापस लौटते हैं और फिर एकसाथ 36,000 साल तक शासन करते हैं। मुख्य अन्तर यह है कि बौद्ध संस्करण में, राम और सीता भाई-बहन हैं। जैन संस्करण (पउमचरियम) पूरी तरह से जैन लोकाचार के अनुसार लिखा गया है। इसमें सभी (दशरथ, राम, सीता और दूसरे) जैन हैं। स्पष्ट रूप से यह एक मुख्य नायक की बड़ी कहानी पर अपना अधिकार जमा लेना है।

इस संस्करण में, अन्त में दशरथ दुनिया का त्याग कर देते हैं...

हाँ, दशरथ दुनिया का त्याग कर देते हैं और सीता आश्रम में चली जाती हैं। उन्हें निर्वासित नहीं किया जाता और न ही वह धरती में समा जाती हैं। दिलचस्प रूप से, वह 'पउमचरियम' ही ऐतिहासिकता का दावा करता है और कहता है कि ये घटनाएँ वास्तव में घटित हुईं थी। वह दावा करता है कि हम आपको बतायेंगे ये कैसे-कैसे घटित हुईं क्योंकि दूसरे संस्करण ठीक नहीं हैं। इस तरह वह दूसरे संस्करणों का विरोध करता है। यह एक ऐसा पाठ भी है जिसमें रावण और दूसरे राक्षसों को मेघवाहन वंश के सदस्य के रूप में वर्णित किया गया है जो चेदियों से सम्बन्धित है, जिसका एक बेहद दिलचस्प समानांतर ऐतिहासिक सन्दर्भ कलिंग के खारवेल के शिलालेख में मिलता है, जिसमें वह स्वयं को मेघवाहन कहता है और चेदियों का उल्लेख करता है। पउमचरियम का मुख्य तर्क यह है कि इन राक्षसों को कहानी के दूसरे संस्करणों में दुष्ट आत्माओं की तरह पेश किया गया है। रावण के दस सिर नहीं हैं। वह नौ विशाल मणियों वाला एक हार पहनता है जिसमें प्रत्येक में उसके सिर की झलक मिलती है। यह वाल्मीकि 'रामायण' और दूसरी रामायणों में दिये गये काल्पनिक चित्रों की तार्किक व्याख्या करने का प्रयास है।

इतनी सारी रामायण क्यों लिखी गयीं? यह हिन्दु धर्म की प्रकृति की वजह से है और यही वह बात है जो एक इतिहासकार के तौर पर मुझे हिन्दु धर्म के बारे में सबसे ज्यादा आकर्षित करती है। यह दूसरे धर्मों से बेहद अलग है। यह किसी एक ऐतिहासिक गुरु, एक पवित्र किताब, सामूहिक पूजापाठ, पंथ और सभी के लिए एकसमान आस्था, और यहूदी-ईसाई परम्परा जैसी दूसरी चीजों पर आधारित नहीं है। वास्तव में यह पथों का एक समूह है। आप किसी भी बात पर विश्वास कर सकते हैं, जब तक आप धार्मिक रस्मों को निभाते रहते हैं। और धार्मिक रस्में अक्सर जाति आधारित होती हैं। पुराने समय में आप किसी धार्मिक रस्म को निभाया जाता देखकर, उसमें इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री और चढ़ावे को देखकर और वहाँ की जाने वाली प्रार्थनाओं को सुनकर यह अंदाजा लगा सकते थे कि यह ब्राह्मणवादी है या गैर-ब्राहमणवादी, या फिर यह निम्न जातियों की है या ऊपरी जातियों की। इसलिए मैं समझती हूँ कि सम्प्रदायों के सन्दर्भ में जाति एक बेहद महत्त्वपूर्ण पहलू है और अगर एक धर्म अनिवार्य रूप से अनेकों सम्प्रदायों के संसर्ग और सह-अस्तित्व पर आधारित है तो उसकी आस्था और रीतिरिवाजों के संस्करण भिन्न-भिन्न होंगे।

इसलिए इन कहानियों की बहुलता है। और यह काफी हद तक उस सामाजिक संस्तर पर निर्भर है जहाँ लेखक का जन्म हुआ था। उदाहरण के लिए, कुछ लोक कथाओं में, जो शानदार कहानियाँ है और जिन्हें प्रायद्वीपीय भारत के कुछ हिस्सों के देहातों में सुनाया जाता है, उनमें सीता अक्सर लड़ाई का नेतृत्व करती है जो इस बात का प्रतीक है कि औरतों ने इस कहानी के अपने खुद के संस्करण गढ़े।

यह कहीं भी किसी भी कहानी के लिए जायज है। आप देख सकते हैं कि लातिन अमरीका में ईसाई धर्म के साथ क्या हुआ, जिस भी इलाके में इसका प्रचार हुआ, वहाँ स्थानीय

लोगों ने उसकी कहानी को अपनी खुद की परम्पराओं के अनुरूप ढाल लिया। यह वास्तव में किसी भी कहानी की महान संवेदनशीलता का लक्षण है कि कैसे वह लोगों की कल्पनाशीलता को आकर्षित कर लेती है और फिर वे उसे अपने अनुसार ढाल लेते हैं।

मैंने बहुलता और विविधता के बारे में पूछा, क्योंकि आजकल इन बातों को सहन नहीं किया जाता। आपके नजरिये से एक लोकतांत्रिक समाज होने के नाते भारत के विकास के साथ ऐसा क्या गलत हुआ कि हम आज इस स्थिति में आ पहुँचे हैं?

एक बार फिर ऐसा लगेगा कि मैं उपनिवेशवादियों पर आरोप लगा रही हूँ लेकिन यह सब ज्यादातर 19वीं सदी की विचारधारा पर आधारित है। औपनिवेशिक विद्वान और अधिकारी हिन्दु धर्म को लेकर भ्रमित थे, क्योंकि यह यहूदी और ईसाई धर्म के उनके अनुभव के साथ मेल नहीं खा रहा था। इसलिए उन्होंने सम्प्रदायों को एक रैखिक परम्परा में बाँध दिया और उन सबको मिलाकर एक धर्म का अविष्कार किया जिसे उन्होंने हिंदू धर्म कहा। आस्थाओं और रीतिरिवाजों का अपना खुद का इतिहास था, लेकिन उन्हें एक प्रारूप के अनुसार ढालने का विचार नया था। इनमें से कुछ परिशिष्ट तो बहुत पहले से अस्तित्व में थे। उदाहरण के लिए, शाक्त-शक्ति परम्परा -तांत्रिक परम्परा-को सातवीं या आठवीं इसवीं के स्रोतों से काफी प्रामाणिकता मिली। फिर भी शायद ये रीतिरिवाज और विचार कुछ विशेष श्रेणी के लोगों के बीच काफी समय पहले से अस्तित्व में थे। आम तौर पर लोग कहते हैं कि शायद यह गैर-वैदिक लोगों, निचली जातियों के लोगों, इत्यादि का धर्म था।

मूर्तिकला इत्यादि में उनका विवरण किस तरह खुजराहो और कोणार्क के मंदिरों की दीवारों में स्थान पा सका?

जैसे-जैसे समाज और उसका इतिहास बदलता है, अभिजात वर्ग के घटक भी बदलते हैं। हम सभी इस विचार के साथ बड़े हुए हैं कि जाति प्रथा एकदम दृढ और अवरुद्ध है। लेकिन वास्तव में अब हम देखते हैं कि राजनैतिक परिदृश्य काफी उदार था। जातियों के अंतर्गत आने वाले समूह, सही परिस्थितियाँ मिलने पर, तिकड़म लगाकर उच्च सामाजिक स्थिति में पहुँच सकते थे।

और इसके लिये उन्हें वंशावलियों को गढ़ना पड़ता था।

हाँ, आप काफी हद तक सही हैं। कोई एक व्यक्ति या परिवार, प्रभुत्व और सत्ता तक पहुँच सकता था और उसके बावजूद भी वह उन देवताओं की पूजा कर सकता था जो शायद पौराणिक नहीं थे, उदाहरण के लिए कुछ देवियाँ। लेकिन चूँकि वे देवी-देवता अब नये अभिजात वर्ग द्वारा संरक्षित थे इसलिए उन्हें देव-समूह में शामिल किया जा सकता था और इस तरह वे पौराणिक हिंदू धर्म का हिस्सा बन गये। इसलिए पौराणिक हिंदू धर्म का अध्ययन आकर्षक और बेहद जटिल दोनों है, क्योंकि आप नहीं जानते कि कौन सी चीज कहाँ से आ रही है। परन्तु ऐतिहासिक रूप से इस बात का पता लगाना बहुत ही रोचक है कि ये विभिन्न घटक कहाँ फल-फूल रहे थे और कब और कैसे वे मुख्यधारा के धर्म का हिस्सा बन गये।

जब मैंने 19वीं सदी के उपनिवेशवादियों का उल्लेख किया तब मैं एक धर्म वाले हिन्दुवाद के निर्माण की तरफ ध्यान आकर्षित करने का प्रयास कर रही थी जिसकी कुछ सुपरिभाषित चारित्रिक विशेषतायें हैं। जब धर्म के रूप और अंतर्वस्तु को राजनीती तय करना शुरू करती है, तब वह साम्प्रदायिकता की परिघटना की शुरुआत करती है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के साथ ऐसा बड़ी आसानी से किया जा सका, क्योंकि यह पहले ही एक संस्थापक और उसकी शिक्षाओं इत्यादि के साथ एक ऐतिहासिक धर्म है। इसके समानांतर हिंदू साम्प्रदायिकता की शुरुआत हुई। ये दोनों एक-दूसरे के प्रतिरूप हैं। इसलिए हिंदू धर्म को फिर से इस तरीके से व्यवस्थित किया जाना जरुरी था, ताकि लोगों को राजनीतिक तौर से लामबंद करने के लिए धर्म का इस्तेमाल सम्भव हो। इसलिए ऐतिहासिकता का प्रश्न बेहद महत्त्वपूर्ण बन गया। अगर आप यह निश्चित करते हैं कि राम को धर्म के संस्थापक के रूप में स्थापित करेंगे तो आपको यह साबित करना होगा कि बुद्ध, ईसामसीह और मोहम्मद इत्यादि की तरह ऐतिहासिक रूप से उनका अस्तित्व था। उन लोगों के बारे में कोई विवाद नहीं है। अशोक ने लुम्बिनी में एक स्तंभ स्थापित किया, जिस पर लिखा है कि वहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। रोमन इतिहासकार ईसामसीह की गतिविधियों के बारे में लिख चुके हैं और अरब इतिहासकार मोहम्मद के बारे में लिख चुके हैं।

इसलिए एक ऐतिहासिक संस्थापक और एक पवित्र

किताब का होना जरूरी हो गया। जब बंगाल में पहली बार अदालतों का गठन किया गया तो जजों ने पंडितों से पूछा कि वे किस किताब पर हाथ रखकर शपथ लेंगे। आपकी बाइबल या कुरान कौन सी है? तब कुछ लोगों ने रामायण का नाम लिया, कुछ ने उपनिषद और कुछ दूसरों ने गीता का नाम लिया। विवाद बरक़रार रहा। गांधीजी ने गीता को काफी ज्यादा महत्त्व दिया था, इसलिए बहुत से लोगों ने यह मानना शुरू कर दिया कि वह पवित्र किताब है। लेकिन जरुरी नहीं कि ऐसा हो। वह बहुत सी पवित्र किताबों में से एक है। इसी तरह राम बहुत से अवतारों में से एक थे, बहुत से भगवानों में से एक, बशर्ते आप यह मानते हों कि वह एक भगवान थे।

उसके बाद एक संगठन का होना जरुरी था। अगर धर्म में विविध सम्प्रदाय शामिल हैं तब उन्हें एक साथ कैसे लाया जाय? इस तरह, एक मायने में, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज और आर्य समाज इत्यादि धर्म को इसी तरह संगठित करने के प्रारंभिक प्रयास थे कि वे संगठन संपूर्ण समुदाय की तरफ से बात रख सकें। लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। इस तरह 1920 और 1930 के दशक में इन विभिन्न प्रयासों की असफलता के बाद हिन्दुत्व का उभार हुआ जो हिंदू धर्म की औपनिवेशिक समझ पर आधारित था और हिंदू धर्म से एक ऐसे धर्म के निर्माण का प्रयास किया गया जिसका राजनीतिक तौर पर इस्तेमाल किया जा सके। इसके लिये किस चीज की आवश्यकता थी? हिंदुओं को एकमात्र मूलनिवासी परिभाषित किये जाने की आवश्यकता थी, क्योंकि उनका धर्म ब्रिटिश भारत के क्षेत्र में ही उत्पन्न हुआ था। इसके अतिरिक्त सभी धर्म विदेशी थे। इस तरह धर्म नागरिकता के अधिकार या विदेशी होने की परिभाषा तय करता है। यह राजनीतिक रूप से बेहद महत्त्वपूर्ण हो जाता है। ये एक बेहद महत्त्वपूर्ण संक्रमण है जो 19वीं सदी की विचारधारा पर आधारित है- औपनिवेशिक विचारधारा और साथ-साथ उसके प्रति भारतीय प्रतिक्रिया दोनों के रूप में।

इसका मतलब राजनीति ही है जो वेंडी डॉनिगेर कि 'द हिंदूस : एन अल्टरनेटिव हिस्ट्री' जैसी किताबों पर प्रतिबन्ध लगाने या उन्हें वापस ले लेने की मांग उठाती है।

पेंगुइन द्वारा प्रकशित यह किताब उस बहुलता पर बहस करती है जिससे हिंदू धर्म की रचना हुई। यह विभिन्न सामाजिक सम्प्रदायों के बारे में और उनसे बने धर्मों के प्रकार के बारे में है, जिनके आधार पर हिंदू पूजा-पद्धति और विचार निर्मित हुए और इस बारे में है कि हिंदू धर्म के निर्माण में उन सम्प्रदायों का क्या योगदान है। एक किताब जो विकल्पों और बहुलता के बारे में बहस करती है, उसे प्रचारित किये जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती। उन्होंने खुले तौर पर इस मुद्दे को नहीं उठाया, क्योंकि राजनीतिक रूप से इसे बहुत अच्छा काम नहीं कहा जाता। इसलिए उन्होंने इस तरह के मुद्दे उठाये कि डॉनिगेर कैसे कह सकती है कि राम एक ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं थे। ज्ञान-विज्ञान की दुनिया में, ज्यादातर लोग यही कहेंगें कि अगर यह असत्य नहीं भी है तो इसका होना अनिश्चित अवश्य है।

इसके अतिरिक्त उन पर शिव की विवेचना करने के लिए फ्रायड द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले तरीकों से विश्लेषण करने का आरोप लगाया गया और उनके कुछ वाक्यों पर आपत्ति जतायी गयी। यह ठीक है कि हर किसी को विरोध जताने का अधिकार है लेकिन विरोध जताने के लिए उन्हें यह समझाना चाहिए कि वे ऐसा क्यों सोचते हैं कि यह गलत है। उन्हें इसकी वजह बतानी चाहिए। आप सिर्फ यह कहकर अपना विरोध नहीं जता सकते कि इससे मेरी भावनाएँ आहत होती हैं, इसलिए मैं चाहता हूँ कि किताब पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। यह एक ऐसी किताब है जो एक शोध प्रस्तुत करती है। आपको इसके खिलाफ शोध प्रस्तुत करना चाहिए। इसके खिलाफ शोध प्रस्तुत करना प्राचीन भारतीय परम्परा होगी। लेकिन दुर्भाग्यवश बहुत से ऐसे लोग जो "आहत भावनाओं' के आधार पर किताबों पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग रख रहे हैं, वे इसका विरोध करने के लिए शोध प्रस्तुत करने की योग्यता ही नहीं रखते।

एक भावना यह भी है कि बहुत से लोग इतिहास के बारे में ऐसी लोकप्रिय किताबें लिख रहे हैं जो शायद तथ्यात्मक रूप से सही नहीं हैं। उदाहरण के लिए, चार्ल्स एलेन की 'अशोका'।

इतिहास हमेशा ही दो बातों का शिकार हुआ है। पहली वजह के बारे में एरिक होब्सबान ने बहुत ही तीखेपन के साथ कहा है कि इतिहास, राष्ट्रवाद के लिए अफीम की तरह है। अतीत और भविष्य के सभी शानदार समाजों का निर्माण इतिहास के आधार पर हुआ है। इसलिए इतिहास ने हमेशा ही राष्ट्रवाद, और साथ ही राजनीति में, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आप इस बात से बच नहीं सकते।

दूसरी वजह यह है कि चूँकि इतिहास को कई मामलों में सिर्फ एक वृतांत के रूप में देखा जाता है-- जो समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, जनसांख्यिकी और अन्य क्षेत्रों से इस मामले में अलग है कि उनका अपना प्रणाली विज्ञान है। लोग यह मानते हैं कि जिस व्यक्ति ने इतिहास की छह किताबें पढ़ी हैं वह सातवीं किताब खुद लिखने की योग्यता रखता है। लेकिन हम लोग जो इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, लगातार यह बात कहते रहे हैं कि इतिहास का विश्लेषण का अपना एक तरीका है। जिन स्रोतों के आधार पर कोई राय बनाते हैं उनकी जांच करने की तमाम तरह की तकनीकी बारीकियाँ है। यह एक बेहद जटिल प्रक्रिया है। इसलिए यह एक और चीज है जिसकी वजह से इतिहास कष्ट उठाता है और भविष्य में भी उठाता रहेगा।

इसलिए इतिहासकारों के बीच एक विभाजन रेखा है। एक तरफ वे इतिहासकार है जो पेशेवर रूप से प्रशिक्षित है और ऐतिहासिक विश्लेषण के तरीकों से वाकिफ हैं, और दूसरी तरफ वे शौकिया लेखक हैं जिन्होंने छह किताबें पढ़ी हैं और फिर वे खुद ही सातवीं किताब लिख देते हैं।

50 साल पहले के मुकाबले इतिहास के अनुशासन की आज कैसी स्थिति है?

पिछले 50 सालों के दौरान इतिहास भारी परिवर्तन से होकर गुजरा है, जिसका शायद एक औसत पाठक को अंदाजा नहीं है। उनका इतिहास बोध 20वीं सदी के मध्य से पहले का है। बहुत से एनआरआई समूहों के साथ यह समस्या है कि वे इतिहास को उसी शब्दावली में व्यक्त करते हैं जिससे वे 50 साल पहले परिचित थे। और वे अगली पीढ़ी के लिए लगातार उसी को दोहराते रहते हैं, जबकि हम इस बोध से अलग हट चुके हैं। यही वजह है कि इतना कम संवाद है।

जब 1960 के दशक की शुरुआत में मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय में अध्यापन शुरू किया, तब हम लोगों के बीच इतिहास के पाठ्यक्रम को राजनैतिक और राजवंशीय इतिहास के दायरे से निकालकर सामाजिक और आर्थिक इतिहास तक विस्तृत करने की आवश्यकता पर जबरदस्त वादविवाद, बैठकें, बहसें और व्याख्यान आयोजित होते थे। कभी-कभार यह वादविवाद उग्र हो जाता था और लोग पूछते थे कि यह अभिनव सामाजिक और आर्थिक इतिहास क्या है। आज कोई भी इसके बारे में प्रश्न नहीं करता। इसमें कुछ भी अभिनव नहीं है। उसके बाद हम कई नयी चीजों और नयी दिशाओं की ओर आगे बढ़ गये। फिर मार्क्सवादी इतिहास लेखन का लंबा दौर चला। उसके बाद इस बारे में काफी दिलचस्पी पैदा हुई जिसे 'साहित्यिक मोड़" कहा गया, जो वास्तव में सांस्कृतिक मोड़ के साथ उत्तर-उपनिवेशवाद था। इतिहासकारों ने मूलग्रंथों का अध्ययन शुरू किया और फिर से उनका विश्लेषण करना शुरू कर दिया।

उत्तर-आधुनिकतावाद के बारे में क्या कहेंगी?

उत्तर-आधुनिकतावाद भी आया है। इसलिए यहां अब एक संपूर्ण नया परिदृश्य उभरा है जिसमें हम में से कुछ लोग बेहद सशक्त दृष्टिकोण रखते हैं। लेकिन मुद्दा यह है कि आपको उन बौद्धिक परिवर्तनों की जानकारी होनी चाहिए जो घटित हुए हैं। मैं अहंकारी नहीं दिखना चाहती, लेकिन मैं कहना चाहती हूँ कि आज हमारे सामने यह परिस्थिति है कि जो लोग समाज विज्ञान के क्षेत्र में लेखन का कार्य कर रहे हैं वे बेहद सशक्त बौद्धिक दृष्टिकोण के साथ यह काम कर रहे हैं। उन्होंने काफी व्यापक अध्ययन किया है, सिद्धान्तों की रचना की है और अतीत को समझने का प्रयास किया है। लेकिन उनका सामना एक बेहद साधारण दृष्टिकोण से हो रहा है। इसलिए बहस करना बेहद कठिन हो गया है क्योंकि जिस आधार पर आज अच्छे इतिहासकार सिद्धान्त गढ़ते हैं, वह अक्सर एक औसत पाठक भी नहीं समझ पाता और वे लोग तो और भी कम समझ पाते हैं जो पढ़ते ही नहीं हैं। और बहुत से ऐसे लोग जो किताबों पर प्रतिबन्ध लगाने या उन्हें बाजार से हटाने की मांग करते हैं वे उन किताबों को नहीं पढ़ते, जिन्हें वे प्रतिबंधित करना चाहते हैं।

❑

नोट :

1. पूर्वी संस्कृतियों का अध्ययन करने वाले पश्चिमी विद्वान।
2. वैदिक इतिहास के अनुसार इक्ष्वाकु मनु का पुत्र और सूर्यवंश का पहला शासक था, जो अयोध्या का राजा था और राम इसी वंश में पैदा हुए थे। रामायण और महाभारत में इसका जिक्र मिलता है।